पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

नन्द-ग्रन्थमाला—७

श्रीमद्भगवद्गीता

(भाषाटीका सहित)

...दाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
...त्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता

(भाषाटीका सहित)

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

नवां वार १५०००] वैसाख १९८२ [मूल्य ~)॥

प्रकाशक—
बैजनाथ केडिया
प्रोप्राइटर
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता।

मुद्रक —
किशोरीलाल केडिया
"वणिक् प्रेस"
१, सरकार लेन, कलकत्ता।

दो शब्द

श्रीमद्भगवद्गीता वेद और उपनिषदोंका सार है, संसारके सब धर्मग्रन्थोंमें शिरोमणि है। हिन्दुओंके सब सम्प्रदायोंमें तो यह भक्ति-भावसे पढ़ी ही जाती है, साथ ही यूरोप और अमेरिका आदि देशोंके विद्वान् भी इसे बहुत ही आदरकी दृष्टिसे देखते हैं।

द्वापर युगके अन्तमें अत्याचारी दुर्योधन-के कारण १८ अक्षौहिणी सैन्यके मध्य महा-भारतका महायुद्ध हुआ था, जिसमें भारतवर्ष-के अतिरिक्त अन्य सुदूरवर्ती देशोंके अधिपति भी आकर सम्मिलित हुए थे, क्योंकि उन दिनों समस्त भूमण्डलपर भारतकी तूती बोलती थी। उस युद्धस्थलमें, भ्रातृवधके पापसे भयभीत अर्जुनके मोहको दूर करनेके लिये भगवान कृष्णने उन्हें गीताका उपदेश किया था।

भारतवर्ष सदैव समस्त संसारमें धर्म-

प्रचारार्थ उपदेशक भेजा करता था, जिस

कारण सर्वत्र आर्य-धर्म प्रचलित था। बौद्ध कालमें भी धर्मका अच्छा प्रचार था, जिसके फलस्वरूप चीन, जापान, श्याम आदि देशोंमें अधिकांश अबतक बौद्धधर्मावलम्बी हैं।

आजकल लोगोंमें धर्म-भाव लुप्तप्राय होकर अज्ञानता बढ़ रही है, इसका मुख्य कारण यही है कि धर्म-प्रचारकोंकी सुचारु रूपेण व्यवस्था नहीं है और न धर्मग्रन्थ ही अल्प मूल्यमें प्राप्य हैं। यदि गीता जैसे उच्च-कोटिक ग्रन्थका विना मूल्य अथवा अल्प मूल्यमें प्रचार किया जाय तो आज भी हिन्दू-धर्मका प्रचार बहुत ही शीघ्रतासे बढ़ सकता है। एतदर्थ इस संस्करणका मूल्य केवल कागज व छपाईका खर्च जोड़कर ही रखा गया है। पुस्तक-विक्रेताओं एवं वितरणार्थ एक सौ प्रतियोंसे अधिक लेनेवालोंको २५) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा। एक सौ प्रतियोंसे कमपर कुछ भी कमीशन न दिया जा सकेगा।

—प्रकाशक

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यप्रारम्भः ।

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥
गीताऽध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकी-
पुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं
तस्य देवस्य सेवा ॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम् ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

* श्रीगणेशाय नमः *

* श्रीमद्भगवद्गीता *

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

हे सञ्जय, पुण्यभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये एकत्र होकर मेरे और पांडुके पुत्रोंने क्या किया ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

व्यूह बनाकर खड़ी पांडवोंकी सेना देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर बोले—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य, पाण्डवोंकी यह बड़ी सेना तो देखिये! इसका यह व्यूह राजा द्रुपदके पुत्र और आपके बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्नने रचा है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इसमें भीम और अर्जुन जैसे बड़े बड़े धनुर्धारी वीर सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद,

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित कुन्तिभोज, नरवर शैब्य,

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

पराक्रमी युधामन्यु, महाबली उत्तमौजा, सुभद्रानन्दन अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचो पुत्र हैं, ये सबके सब महारथी है ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे विप्रवर, आपको केवल स्मरण दिलानेके लिये अब मैं अपने पक्षके कुछ चुने हुए सेनापतियोंके नाम सुनाता हूं, ध्यान देकर सुनिये ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप, भीष्म, कर्ण, सदाविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

तथा और बहुतसे वीर हैं। ये सब युद्धविद्यामें प्रवीण, भांति भांतिके शस्त्र चलानेमें निपुण और मेरे लिये प्राणतक देनेको प्रस्तुत हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

कहां तो हमारी यह अनगिनत सेना जिसके रक्षक भीष्म हैं और कहां उनकी वह छोटीसी सेना जिसका रक्षक भीम है!

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

कुछ परवा नहीं! आप लोग सब अपने अपने मोर्चों पर खड़े हो जायं और सेनापति भीष्म-की रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥

(इतनेमें) दुर्योधनको प्रसन्न करते हुए वृद्ध

कौरव पितामह भीष्मने सिंहकी जैसी गर्जना कर बड़े जोरसे अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥

तब चारों ओर एक साथ शंख,नगारे,ढोल, सहनाई,गोमुख आदि युद्धके बाजे बजने लगे। वह नाद बड़ा ही भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥

सफेद घोड़ोंके बहुत बड़े रथपर बैठे हुए कृष्ण और अर्जुनने भी उसी समय अपने अपने दिव्य शंख बजाये ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥

श्रीकृष्णने पांचजन्य, अर्जुनने देवदत्त और भीषण कर्म करनेवाले भीमने अपना पौंड्र

नामक बहुत बड़ा शंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष, सहदेवने मणिपुष्पक,

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥

महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥

द्रुपद, द्रौपदीके पुत्रों और सुभद्राके पुत्र महाबाहु अभिमन्युने, हे राजन, अपने अपने शंख बजाये ॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

उस भयंकर शब्दसे पृथ्वी और आकाश गूंज उठे तथा कौरवोंके कलेजे कांपने लगे।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषिकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

इसके बाद भी कौरवोंको युद्धके लिये प्रस्तुत और शस्त्र चलानेका समय आया देखकर कपिध्वज अर्जुनने अपना धनुष उठा लिया। और हे राजन्, श्रीकृष्णसे कहा—

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

हे अच्युत, मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच खड़ा करो, जिससे मैं एक बार भलीभांति देख लूं कि लड़नेके लिये यहां कौन कौन आये

हैं और मुझे किन किनसे जूझना होगा।

योत्स्यमानानवेक्षेहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

मैं एक बार उन्हें देखना चाहता हूं जो धृत-राष्ट्रके पुत्र दुष्ट-बुद्धि दुर्योधनके कल्याणकी इच्छासे मरने-मारनेपर उतारू हो गये हैं।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

हे भारत, अर्जुनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने वह उत्तम रथ दोनों सेनाओंके बीच, भीष्म, द्रोण तथा और और राजाओंके सामने खड़ा करके कहा—"पार्थ, ये देखो कौरव हैं।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य सकौंतेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन दोनों सेनाओंमें अर्जुनको अपने ही चाचा, दादा, गुरु, मामा, भाई, बेटे, पोते, साथी, ससुर और मित्र दिखाई दिये। इस प्रकार अपने बन्धु-बान्धवोंको सामने खड़ा देखकर अर्जुनने अत्यन्त दयार्द्र होकर बड़े ही दुःखसे कहा—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२६॥

हे कृष्ण, इन सब अपने ही लोगोंको युद्धके

लिये उपस्थित देखकर मेरे तो हाथ-पैर ढीले हो रहे हैं, मुंह सूखा जा रहा है, शरीर कांप रहा है, रोमाञ्च हो रहा है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ३०

हाथसे गांडीव धनुष गिरा जा रहा है और सारा शरीर जलने लगा है। मुझमें अब खड़े रहनेका भी सामर्थ्य नहीं है। मेरा जी घबड़ा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

हे केशव, लक्षण भी विपरीत दिखाई दे रहे हैं। मैं नहीं समझता कि युद्धमें स्वजनोंको मारनेसे हम लोगोंकी भलाई होगी।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

हे कृष्ण, मैं जय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता और सुख भी नहीं चाहता। हे गोविन्द, राज्य लेकर हम क्या करेंगे? ऐसे सुखसे ही क्या होगा? और तो क्या, उस दशामें जीना ही किस कामका है॥ ३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥

मनुष्य जिनके लिये राज्य, भोग और सुख चाहता है, मेरे सामने तो वे ही प्राण और धनकी आशा त्यागकर लड़नेके लिये खड़े हैं॥ ३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा

ये गुरु, चाचा, बेटे-भतीजे, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और सम्बन्धी हैं॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥

ये मुझे मार भी डालें तो भी, हे मधुसूदन! पृथ्वी तो पृथ्वी तीनों लोकों (स्वर्ग-मर्त्य-पाताल) के राज्यके लिये भी मैं इन्हें न मारूंगा ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६॥

हे कृष्ण! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेसे हमारी कौनसी भलाई होगी? सच है कि ये हमारे आततायी*हैं, और आततायियोंको मारनेकी अनुमति भी नीति-शास्त्रमें दी गयी है, तो भी इनको मारनेमें पाप ही है।

(क्योंकि ये हमारे स्वजन हैं।)

---

* आततायी छः प्रकारके होते हैं, (१) आग लगानेवाला, (२) विष देनेवाला, (३) शस्त्र लेकर मारनेको आनेवाला, (४) धन हरण करनेवाला, (५) भूमि हरण करनेवाला और (६) स्त्री हरण करनेवाला। नीति है कि आततायीको देखते ही मार डालना चाहिये।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥

क्योंकि धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे नातेदार हैं, इसलिये इनको मारना अनुचित है। हे माधव! भला अपने ही सम्बन्धियोंको मारनेसे सुख कैसे मिलेगा॥ ३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥

यद्यपि लोभसे दुर्योधनादिकी बुद्धि मारी गयी है, जिससे वे नहीं जानते कि कुलका नाश होनेसे बड़े बड़े अनर्थ होते हैं तथा मित्र-द्रोह करनेसे पाप लगता है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

पर, कुलनाशके दोष भलीभांति जानकर भी, क्या हमें यह न सोचना चाहिये कि इस

पापसे दूर रहना ही कर्त्तव्य है ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलका क्षय होनेसे प्राचीन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मनाशसे कुलमें पाप बढ़ता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! कुलका धर्म नष्ट होनेसे स्त्रियां बिगड़ती हैं और स्त्रियोंके बिगड़नेसे सन्तान वर्णसंकर (दोगली) होती है ।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

जिस कुलमें वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह कुल और उस कुलका नाश करनेवाले, दोनों ही नरकमें जाते हैं, केवल इतना ही नहीं, श्राद्ध-तर्पणादि बन्द हो जानेके कारण उनके

पितर भी स्वर्गसे गिरते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

कुलनाश करनेवालोंके, इन वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे प्राचीन जातिधर्मों और कुल-धर्मोंका भी नाश होता है॥ ४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

हे जनार्दन! बराबर सुनते आये हैं कि जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है, उनको अवश्य ही नरकमें जाना पड़ता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥

हाय! राज्यसुखके लोभसे हमलोग अपने स्वजनोंको मारनेका महत्पाप करनेके लिये भी तैयार हो गये!

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४६॥

यदि मैं हाथमें शस्त्र न लूं और आक्रमण करनेवालोंको न रोकूं तथा शस्त्रधारी कौरव आकर मुझे मार डालें, तो उससे मेरा अधिक कल्याण होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

यह कहकर अर्जुनने हाथसे धनुषबाण फेंक दिया और अत्यन्त दुःखित होकर रथपर बैठ गया।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अर्जुन
विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

जो दयासे विवश हो गया है अथवा जो मोहमें फँस गया है, जिसकी आँखोंमें आँसू भर आये हैं और जो अत्यन्त दुःखित हो रहा है, ऐसे अर्जुनसे मधुसूदनने कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन, ऐसी विपदाके समयमें तुम्हें यह मोह कहांसे आया ? इस प्रकारका मोह तो अनार्योंको अर्थात् हीन पुरुषोंको ही होता है

यह स्वर्ग-प्राप्तिमें बाधा डालता है और कीर्तिका नाश करता है।

क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

पार्थ, ऐसे कायर मत बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे परन्तप! मनकी यह क्षुद्र दुर्बलता दूर करो और वीरके समान खड़े हो जाओ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४॥

हे अरि-सूदन! जिनकी पूजा करनी चाहिये, ऐसे भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंसे मैं कैसे लड़ूं? इनपर मैं कैसे बाण चलाऊं?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

ऐसे महानुभाव गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा लोगोंके बीचमें भीख मांगकर खाना भी अच्छा है। यद्यपि दुर्योधनका अन्न खानेके कारण इनको लड़नेके लिये आना पड़ा है, तो भी ये हमारे गुरु ही हैं, इनको मारनेसे हमें इसी लोकमें इनके रक्तमें सने सुख भोगने होंगे।

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम,
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

ये हमें हरावें तो अच्छा होगा या हम इन्हें हरावें तो अच्छा होगा, इसका भी निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हूं। जिनको मारनेसे स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा ही नहीं हो सकती, वे

ही धृतराष्ट्र-पुत्र हमारे सामने लड़नेको खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं ॥ ७ ॥

मोह और स्वजन-हत्यासे होनेवाले दोषके विचारसे मैं बिल्कुल घबड़ा गया हूं, मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है और धर्म क्या है, यह मेरी समझमें ही नहीं आता है। इसीसे तुमसे पूछता हूं। बताओ, मेरे लिये हितकर क्या है? मैं तुम्हारा शिष्य हूं, तुम्हारी शरणमें आया हूं. मुझे सत्यमार्ग दिखाओ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोक मुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं,
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

बहुत बड़ा, सम्पत्तिशाली और निष्कण्टक पृथ्वीका राज्य और स्वर्गका राज्य भी मिले, तो भी मेरी इन्द्रियोंको अत्यन्त कष्ट देनेवाले इस शोकको दूर करनेका उपाय मुझे दिखाई नहीं देता है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

हे राजन्! अर्जुनने कृष्णसे इतनी बातें कहीं, फिर अन्तमें यह कहकर कि "हे कृष्ण! मैं तो युद्ध न करूंगा" मौन धारण किया ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत, दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनको इस प्रकार शोक करते देख, श्रीकृष्णने उससे मुस्कुराकर कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

हे पार्थ, तुम मुंहसे तो ज्ञानकी बड़ी बड़ी बातें कह रहे हो और जिसके लिये शोक करना अनुचित है उसके लिये शोक भी करते हो, पर जो सच्चे ज्ञानी हैं, वे न मरनेका शोक करते हैं और न जीनेका ही ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

यह तो हो ही नहीं सकता कि मैं इसके पहले कभी न था या तुम कभी न थे, या ये राजा कभी न थे, अथवा इसके बाद हम कोई न होंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहीको अर्थात् आत्माको जैसे इस देहमें लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा होता है, वैसे ही दूसरी देहमें भी प्राप्त होता है, यह पण्डितोंका निश्चित मत है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

पर हे कुन्तीपुत्र! शीत, उष्ण और सुख दुःख देनेवाले पदार्थोंका परिणाम केवल इन्द्रियोंपर होता है (आत्मापर नहीं होता)। ये जैसे उत्पन्न होते हैं वैसे ही नष्ट भी होते हैं। ये अनित्य हैं अर्थात् कभी न कभी इनका नाश होता ही है, इसलिये हे भारत! इनको धैर्यके साथ सहन करो॥ १४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! जिस ज्ञानी पुरुषको

ये सता नहीं सकते, जिसके लिये सुख और दुख दोनों ही समान हैं, वही अमर होनेयोग्य है अर्थात् मुक्ति उसीको मिलती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जिसका अस्तित्व ही नहीं है अर्थात् जो है ही नहीं, उसका होना असम्भव है और जो वस्तुतः है, उसका नाश नहीं हो सकता। तत्व जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने इन दोनोंके सम्बन्धमें यही निश्चय किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

यह भलीभांति जान लो कि जिसके बलसे विश्व चल रहा है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता। वह अव्यय है, चिरकालतक रहेगा, किसीके लिये वह नष्ट न होगा।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धचस्व भारत॥

यह देह नाशवन्त है, पर इसमें रहनेवाला देही (आत्मा) नित्य, अमर और अप्रमेय (जाना नहीं जा सकता ऐसा) है, इसलिये हे अर्जुन! तुम युद्ध करो॥ १८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

जो आत्माको मारनेवाली समझता है और जो इसे मरी समझता है, वे दोनों ही मूर्ख हैं, यह न मारती है न मरती है।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

आत्मा न कभी जन्म लेती है, न मरती है, न जनमी थी, न कभी मरेगी, यह अजन्मा, चिरस्थायी, कभी न घटने बढ़नेवाली और सनातन है। शरीरके मरनेपर भी यह नहीं मरती।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

जो यह जानता है कि आत्मा कभी नाश न पानेवाली, सदा रहनेवाली, अजन्मा, कभी न बदलनेवाली है, हे पार्थ! भला कहो तो वह मनुष्य कैसे किसीको स्वयं मार सकता है वा दूसरेसे उसका नाश करा सकता है॥ २१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र [illegible]

करता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुरानी देह त्यागकर दूसरी नयी देह ग्रहण करती है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥

आत्माको न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी भिगा या गला सकता है और न हवा सुखा सकती है। यह न कट सकती है, न जल सकती है, न भीग या गल सकती है और न सूख सकती है। यह अविनाशी, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोयमचिन्त्योयमविकार्योयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

यह इन्द्रियोंसे जानी नहीं जा सकती, यह कल्पनासे भी परे है और इसमें फेर बदल नहीं

हो सकता, इसलिये इसे ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि कहो कि आत्मा सदा ही जनमती और मरती रहती है, तो भी हे महाबाहो, तुम्हें इसके लिये शोक न करना चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि, जो जनमा है वह अवश्य मरेगा, जो मरा है वह अवश्य जनमेगा; अतएव जो बात अनिवार्य्य है उसके लिये तुमको शोक न करना चाहिये।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

जन्म लेनेके पहले क्या था, कोई नहीं जानता, जन्मके बाद कुछ काल उसका परिचय होता है

सही, पर मरनेके बाद फिर क्या होगा, यह भी कोई नहीं जानता; इस दशामें शोक ही किस बातका करते हो?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २६॥

(यह आत्मज्ञानका विषय बड़ा कठिन है) कोई तो (हतबुद्धि हो) टकटकी लगाये देखते ही रह जाता है, कोई मुँहसे कहता है, "भाई, बड़ा आश्चर्य है," कोई यह विषय बड़े आश्चर्यसे सुनता है, पर सुनकर भी कोई नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

हे भारत! यह देही चाहे जिस देहमें हो, इसको कोई कभी मार नहीं सकता। इसलिये

तुमको किसीके लिये शोक न करना चाहिये।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

तुम्हें अपने क्षात्र धर्मके विचारसे भी यह भय त्याग देना चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धसे अधिक हितकारक और कुछ भी नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

हे अर्जुन! यह युद्ध क्या है, मानो आप ही आप खुला हुआ स्वर्गका द्वार है, ऐसा मौका जिस क्षत्रियको मिलता है, वही भाग्यशाली है।*

*मिसेज ऐनी बीसेन्टने इसका अंगरेजीमें इस प्रकार उल्था किया है:—

"Happy the Kshatriyas, O Partha, who obtain such a fight offered unsought as an open door to heaven."

("आप ही आप खुला हुआ स्वर्ग-द्वार रूप युद्ध"—इसका भावार्थ यह है, कि तुमको अपने दोष वा अत्याचारके कारण लड़ना नहीं पड़ रहा है, पर तुम्हारी इच्छा न रहते हुए भी दूसरेके अत्याचारसे आत्मरक्षा करनेके लिये तुम लड़नेको बाध्य हुए हो, आत्मरक्षाके लिये, पर-पीड़नके लिये नहीं, युद्ध करना क्षत्रियका परम धर्म है, इससे उसको स्वर्गकी प्राप्ति होती है।)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

यदि तुम धर्मके अनुकूल यह युद्ध न करोगे तो तुम्हारा धर्म और यश नष्ट होगा और तुम्हें पाप लगेगा॥ ३३॥

अकीर्तिंचापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥

लोग सब समय तुम्हारी निन्दा करेंगे, और

श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये अपयश मृत्युसे भी बढ़कर दुखदायी होता है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

ये महारथी कहेंगे कि "अर्जुन डरकर लड़ाईसे भाग गया ।" और आजतक जो लोग तुम्हारा सम्मान करते थे, वे निन्दा करने लगेंगे ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

और तुम्हारे बलकी निन्दा करनेवाले तुम्हारे शत्रु ऐसी ऐसी बातें कहेंगे जो न कहनी चाहिये । भला इससे बढ़कर दुःख ही क्या है ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

यदि तुम युद्धमें मारे जाओगे तो स्वर्ग पाओगे और जीतोगे तो पृथ्वीके सुख पाओगे ।

इसलिये हे अर्जुन ! युद्ध करनेका निश्चय करके उठ कर खड़े हो जाओ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

(इतनेपर भी यदि तुमको पाप लगनेका भय हो तो) सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय—इनको एकसा मानकर युद्ध करो, तब पाप नहीं लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

हे पार्थ! अबतक मैंने तुमको आत्मतत्व समझाया, इसका ज्ञान होनेसे मनुष्य शोक-मोहादि विकारोंसे मुक्त हो जाता है, पर यह विषय अति कठिन है, इसलिये अब तुमको कर्मयोगका तत्व समझाता हूं, मन लगाकर सुनो, यदि इसका अनुसरण करोगे तो कर्मका

दुष्ट फल तुमको कभी न भोगना पड़ेगा ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

इस कर्मयोगकी विशेषता यह है कि इसके अनुसार (अर्थात् फल पानेकी इच्छा किये विना) केवल कर्त्तव्य-ज्ञानसे कर्म करोगे तो वह अधूरा रहनेपर भी बिलकुल नष्ट न होगा—जितना करोगे उतना ही सिद्ध होगा और भूल-चूक हो जानेपर भी परिणाममें अनिष्ट न होगा। कामना त्यागकर कर्म करनेसे मनुष्य बड़ी बड़ी विपदाओंसे बच जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

हे कुरु-कुलको आनन्द देनेवाले अर्जुन! इस कर्मयोगका मूलतत्व "व्यवसायात्मिका बुद्धि," अर्थात् दृढ़ निश्चय है, 'यह मेरा कर्त्तव्य है'

इतना ही जानकर, फलाफलकी परवा किये बिना, दृढ़ताके साथ कर्म करते रहना चाहिये। पर जिसमें यह दृढ़ निश्चय नहीं है वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि उसके चित्तमें अनन्त कल्पनाएं उठती रहती हैं और उन कल्पनाओं-की भी अनगिनत शाखाएं होती हैं, उस दशामें मनुष्य सन्देहमें ही रह जाता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

हे पार्थ! श्रुतिमधुर, जन्म कर्मरूप फल देनेवाले, भोग और ऐश्वर्य्य-प्राप्तिके साधन-कर्म बतानेवाले ये वाक्य विचारहीन पुरुष कहा

करते हैं। वेदोक्त काम्य कर्मको ही जो एक-मात्र धर्म समझते हैं ("वेदवादरताः") जो कहते हैं—"इनके सिवा और कुछ है ही नहीं", उनकी कामना नष्ट नहीं हुई है। वे स्वर्ग चाहते हैं, वे भोग तथा ऐश्वर्य्य चाहते हैं और इन्हींमें उनका जी लगता है। ऐसे पुरुषोंकी बुद्धि इतनी निश्चयात्मक नहीं होती कि वे ईश्वरमें चित्तकी एकाग्रता कर सकें ॥४२॥४३॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

हे अर्जुन, त्रिगुणोंमें अर्थात् सत्व-रज-तममें बंधे हुए साधारण मनुष्योंके लिये ही वेदोंमें काम्यकर्म कहे गये हैं; तुम इन तीनों गुणोंके परे हो जाओ; सुख-दुख, शीतोष्ण, रागद्वेष आदि द्वन्द्वोंका त्याग करो; नित्य सत्वका आश्रय ग्रहण करो; न सांसारिक वस्तु प्राप्त

करनेकी इच्छा करो, न प्राप्त वस्तुकी रक्षा करने-
का ही प्रयत्न करो और सदा सावधान रहो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

जैसे छोटेसे कूपसे होनेवाला काम पानीसे लबालब भरे हुए तालावसे सहज ही हो जाता है, इसी प्रकार वेदोंमें कथित काम्यकर्मोंका फल ब्रह्मज्ञानीको अनायास ही प्राप्त होता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥

कर्म करो, कर्मफलकी आशा मत करो; कर्मफलको ही कर्म करनेका कारण मत बनाओ और निकम्मे भी मत रहो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनंजय! तुम योगस्थ होकर कर्म करो,

फलकी कभी आशा मत करो, सफलता और असफलता दोनोंको समान मानकर ही कर्म करो; क्योंकि इसी समज्ञानको 'योग' कहते हैं। (यहां 'योग' शब्द पतञ्जलिके 'चित्त-वृत्ति-निरोध' अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है।) ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय! बुद्धियोगकी अर्थात् समत्व बुद्धिकी अपेक्षा काम्यकर्म अत्यन्त हीन है, इसलिये तुम बुद्धियोगका आश्रय ग्रहण करो। (सफलता असफलताको समान समझते हुए केवल कर्त्तव्य समझकर कर्म करो।) फलकी इच्छासे कर्म करनेवाले पुरुष निकृष्ट होते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

(उल्लिखित) बुद्धियोग जिसे सिद्ध हुआ है,

वह न स्वर्ग पानेके लिये कोई कर्म करता है, न नरकमें जानेके लिये। अतः तुम योगका अनुष्ठान करो, कर्ममें कुशलता ही योग है। (अर्थात् कर्त्तव्यकर्म यथाविधि करना ही योग कहलाता है।) ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

बुद्धियोगावलम्बी ज्ञानी पुरुष कर्मजनित फलका त्यागकर, जन्म-बन्धनसे मुक्त हो, सब दुःखोंसे रहित परमपद पाते हैं॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहवनके बाहर निकल जायगी, तब उन सब बातोंसे तुम्हारा मन विरक्त हो जायगा जो आजतक तुमने सुनी हैं या आगे सुनोगे॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

कर्मफल बतानेवाले वेदमन्त्रोंको सुनकर तुम्हारी बुद्धि विक्षिप्त हो गयी है, वह जब समाधिस्थ होकर अचला होगी, तभी तुमको योगकी प्राप्ति होगी ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

हे केशव ! जो समाधिस्थ होकर स्थितप्रज्ञ हुए हैं, उनका लक्षण क्या है ? स्थितप्रज्ञ व्यक्ति क्या कहते हैं, कैसे बैठते हैं और कैसे चलते हैं ? (उनका रहन-सहन कैसा होता है ?) ॥५४॥

श्रीकृष्ण उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

हे पार्थ ! जो समस्त मनोरथोंका त्याग कर अपनेमें ही रम जाता है—आत्माराम हो जाता है, उसे "स्थितप्रज्ञ" (दृढ़बुद्धिवाला) कहते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

जो न दुःखसे दुःखी होता है, न सुख चाहता है, और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसीको "स्थितप्रज्ञ" कहते हैं ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिसे किसीसे प्रेम नहीं है, जो न शुभसे प्रसन्न होता है न अशुभसे दुखी, वही स्थितप्रज्ञ है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कछुआ जैसे सब पदार्थोंसे अपने अंगोंको हटा लेता है, वैसे ही जो इन्द्रियोंके विषयोंसे

इन्द्रियोंको हटा लेता है, उसीकी बुद्धि दृढ़ हुई है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

जो विषयोंका त्याग करता है, उससे विषय तो दूर रहते हैं, पर विषयभोगकी वासना बनी ही रहती है, केवल ब्रह्मसाक्षात्कारसे ही वह नष्ट होती है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

हे कौन्तेय ! विवेकी पुरुषके प्रयत्न करते रहनेपर भी चञ्चल करनेवाली इन्द्रियां बलपूर्वक उसका चित्त हरण करती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

उन सब इन्द्रियोंका संयम कर और योग-

युक्त होकर जो मुझमें अपना चित्त लगा देता है, उसीकी इन्द्रियां वशमें हुई हैं, वही स्थितप्रज्ञ है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

विषयभोगका विचार करनेसे उसमें आसक्ति होती है। आसक्तिसे पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है और (न मिलनेपर) इच्छासे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति

क्रोधसे अविचार होता है, अविचारसे भ्रम होता है, भ्रमसे बुद्धिनाश होता है और बुद्धि-नाशसे सर्वनाश होता है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

दोनोंसे ही छुटकारा पायी हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयभोग करता हुआ मनोजयी पुरुष ही शान्ति लाभ करता है॥ ६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

शान्तिसे उसके सब दुःखोंका नाश होता है। प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही निश्चला होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

जिसको योग (समत्व-ज्ञान) प्राप्त नहीं हुआ है, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। वह परमात्माका ध्यान नहीं कर सकता। जो परमात्मामें चित्त नहीं लगा सकता, उसको शान्ति नहीं मिल सकती; और शान्तिके बिना सुख नहीं होता॥ ६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

वायु जैसे नावको जलमें बहा ले जाती है, उसी तरह इन्द्रियाँ उस मनुष्यकी बुद्धि हरण करती हैं, जिसका मन विषयासक्त इन्द्रियोंका अनुसरण करता है ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इसलिये हे महाबाहो, जिसकी इन्द्रियां विषयों-से सर्वथा विमुख हो गयी हैं वही स्थित प्रज्ञ है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

सब जीव जिसे रात समझते हैं, उसी समय संयमी पुरुष जागता रहता है और जिस समय साधारण जीव जागते हैं, वह ज्ञानी मुनिकी रात है ॥ ६६ ॥

(अर्थात् जो ब्रह्मनिष्ठा साधारण जीवोंके लिये रातसी है, उसीमें जितेन्द्रिय योगी जागते हैं; और जिस विषयवासनारूप दिनमें समस्त प्राणी जागते हैं, आत्म-तत्त्वदर्शी योगीके लिये वही रात है—साधारण प्राणि-योंके लिये ब्रह्मनिष्ठा अन्धकारसी है, पर जितेन्द्रिय योगियोंके लिये वही प्रकाश है; विषयनिष्ठा सब प्राणियोंके लिये प्रकाश है, पर तत्त्वदर्शी योगियोंके लिये वही अन्धकार है।)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

जलसे भरे हुए प्रशांत समुद्रमें जैसे बिना बुलाये सब नदियाँ प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार जिसके पास बिना चाहे सब भोग जाते हैं, उसीको शान्ति मिलती है। भोगकी इच्छा

करनेवालोंको शान्ति नहीं मिलती ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

जो पुरुष सब कामनाओंका त्याग कर इच्छा-रहित हो जाता है, जिसमें "मैं" और "मेरा" भाव नहीं रहता, उसीको शान्ति मिलती है ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥

हे पार्थ ! यही ब्रह्म निष्ठा है। इसे पाकर किसीको फिर मोह नहीं होता। अन्तकालमें भी यदि इसकी प्राप्ति हो, तो ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

(इन्द्रियोंका संयम और परमात्मामें चित्ता-र्पण कर निष्काम कर्म करना ही ब्रह्मनिष्ठा है। यही सनातनधर्मका सार है।)

इति श्रीमद्भगवद्गीता० सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

अथ तृतीय अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

हे जनार्दन! यदि तुम्हारे मतसे कर्मकी अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है, तो हे केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों प्रवृत्त करते हो॥ १॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

सन्देहजनक बातें कहकर मुझे भ्रममें डाल रहे हो। इसलिये एक ऐसी निष्ठा बताओ जिससे मेरा कल्याण हो॥२॥

श्रीकृष्ण उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

हे निष्पाप ! मैंने पहले ही बताया है कि इस लोकमें निष्ठा दो प्रकारकी होती है—एक तो ज्ञानके द्वारा सांख्योंकी और दूसरी कर्मके द्वारा योगियोंकी ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

मनुष्य यदि कर्मका आरम्भ न करे तो इतनेसे ही वह कर्मसे अलग नहीं रह सकता। और केवल संन्याससे अर्थात् कर्मका त्याग करनेसे भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

क्योंकि एक क्षण भी मनुष्य कुछ किये बिना नहीं रह सकता,प्रकृति सबसे कर्म कराती है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जो मूढ़ पुरुष कर्मेन्द्रियोंको दबाकर मनमें उनके विषयोंका चिन्तन करता है, लोग उसे दाम्भिक (मक्कार) कहते हैं ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

पर जो चित्तसे इन्द्रियोंको अधीन कर उनके द्वारा कर्म्म करता है अथच उनमें आसक्त नहीं होता अर्थात् स्वयं उनके अधीन नहीं होता वही पुरुष श्रेष्ठ है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

तुम अपना कर्त्तव्य करो, क्योंकि कुछ भी न करनेसे कर्त्तव्यकर्म करना अच्छा है, यदि कोई कर्म्म न करोगे तो तुम्हारे शरीरकी भी रक्षा न होगी ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ६ ॥

यज्ञके*अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं वे ही इस लोकमें बंधनके कारण होते हैं। हे अर्जुन, आसक्ति त्यागकर तुम सुखसे यज्ञार्थ कर्म करो।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रारंभमें धर्मरूपी यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने उनसे कहा—"इस धर्मानुष्ठानके द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह यज्ञ तुम्हारे इच्छित फलोंका देनेवाला होवे ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

तुम इस यज्ञसे देवताओंको सन्तुष्ट करते

* अध्याय ४ में श्लोक २५ से ३० तक यज्ञोंका वर्णन किया है, और यज्ञोंसे तात्पर्य धर्मपूर्वक, आसक्तिको छोड़कर न्याय्य रीतिसे धनका उपार्जन करना ही है।

रहो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए दोनों परम कल्याण प्राप्त करो।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः १२॥

क्योंकि धर्माचरणरूपी यज्ञसे सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित सब भोग तुम्हें देंगे। उन्हींका दिया उन्हें वापिस न देकर जो केवल स्वयं उपभोग करता है वह सचमुच चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥

यज्ञ करके बचा हुआ भाग जो स्वयं ग्रहण करते हैं वे सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। पर जो पापी केवल अपने ही लिये अन्न पकाते हैं, वे पापके भागी होते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टिसे उत्पन्न होता है, वृष्टि यज्ञ अर्थात् धर्माचरणसे होती है और धर्मानुष्ठानरूपी पञ्चमहायज्ञादि कर्मसे होते हैं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

कर्मकी उत्पत्ति ब्रह्मसे हुई है। ब्रह्मका कभी नाश नहीं होता और वह अन्य किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये सब पदार्थोंमें रहनेवाला ब्रह्म यज्ञमें भरा हुआ है॥ १५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

इस प्रकार चलाया हुआ चक्र जो आगे नहीं चलाता उसका जीना व्यर्थ है—पापमय है। वह इन्द्रियोंके सुखमें लिप्त रहता है, इसीसे उसका जीवित रहना व्यर्थ है॥ १६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

हां, जो मनुष्य आत्मामें ही रम गया है ("रमि राम रहा है"), आत्मसुखसे ही तृप्त हो गया है, आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसको कर्म करनेसे भी कोई लाभ नहीं है, न करनेसे भी कोई लाभ नहीं है और किसी प्राणीसे अपना लाभ करा लेनेकी उसे आवश्यकता भी नहीं है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

पर तुम वैसे (ब्रह्मज्ञानी) नहीं हो, इसलिये तुमको कर्त्तव्यकर्म अवश्य करने होंगे। क्योंकि

जो कर्म करोगे उसमें आसक्त मत हो, क्योंकि जो मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करता है वह उत्तम पद पाता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्मसे ही जनकादिकको उत्तम सिद्धि मिली। इसके अतिरिक्त कर्म करनेका एक और कारण है। वह यह कि जिसमें अज्ञानी पुरुष अपने अपने कर्त्तव्यकर्म करें—उच्छृङ्खल न हो जायं, इस हेतुसे भी तुमको कर्म करना चाहिये।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो करता है वही और लोग भी करते हैं, श्रेष्ठ जिसे उत्तम समझता है और लोग भी उसे ही उत्तम समझते हैं।

(इसलिये बड़े आदमियोंको खूब सोच-समझकर काम करना चाहिये और आचरण शुद्ध रखना चाहिये, क्योंकि समाज उनका ही अनुसरण करता है। सामान्य पुरुषके कर्म्म-का फल केवल उसे ही भोगना पड़ता है, पर श्रेष्ठ पुरुषोंके कर्म्मोंका फल समाजको भी भोगना पड़ता है। बड़ोंको अपना यह दायित्व कभी न भूलना चाहिये।)

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन! मुझे तो तीनों लोकोंमें कोई कर्त्तव्य ही नहीं है, और न कोई ऐसी वस्तु ही है जो मुझे न मिली हो, तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३

क्योंकि आलस्य त्याग यदि मैं ही कर्म न करूंगा, तो हे पार्थ! मनुष्य भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

यदि मैं कर्म्म न करूं तो विश्वब्रह्माण्डका नाश होगा, वर्णसंकर होगा और समस्त प्रजाका सर्वनाश होगा॥ २४॥

(कर्म्म न करनेसे भी कैसे कर्म्म होता है, इसका यही उदाहरण है।)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

हे भारत! विद्वानोंको चाहिये कि जनताको सुमार्ग दिखावें, स्वयं आसक्त न होकर भी इस प्रकार कर्म करें कि उसे देखकर कर्मासक्त अज्ञानी लोग भी वैसे ही कर्म करें॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

जिनकी कर्ममें आसक्ति है, ऐसे मूर्खोंमें विद्वान् कभी बुद्धिभेद उत्पन्न न करे अर्थात् ऐसा कोई कर्म्म न करे जिससे मूर्ख पुरुष कर्म्मसे विमुख हो जायँ, इसलिये स्वयं इस प्रकार कर्म करना चाहिये जिसमें मूर्ख भी उसका अनुसरण करें॥ २६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२७॥

प्रकृतिके गुणोंसे सब कर्म्म उत्पन्न होते हैं। पर अहङ्कारसे जिसकी बुद्धि मारी गयी है वह अपनेको ही सब कर्म्मोंका कर्त्ता समझता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

पर हे महाबाहो! जो गुण और कर्मके

वास्तविक तत्त्व जानता है वही समझता है कि गुणोंकी प्रवृत्ति गुणोंकी ओर होती ही है अर्थात् इन्द्रियोंका खिंचाव विषयोंकी ओर होता ही है और इसी व्यापारको कर्म कहते हैं, इसलिये वह कर्म्मसे अलिप्त रहता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

प्रकृतिका गुण न जाननेवाले विषयान्ध पुरुष इन्द्रियोंके विषय-भोग-स्वरूप कर्म्मोंमें ही लिप्त हो जाते हैं। ऐसे मूर्खोंको ज्ञानकी बातें बताकर बुद्धिभेद न करना चाहिये ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥

"मैं परमात्माका ही अंश हूं और वही मुझसे कर्म कराता है" यह निश्चय कर लो, सब कर्म मुझे अर्पण करो, फलकी आशा छोड़

हो, अहंकारका त्याग करो और शोकरहित होकर युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

जो पुरुष मात्सर्यका त्यागकर मेरे इस कथनपर विश्वास करके कर्म करते हैं वे कर्मके बन्धनमें कभी नहीं फँसते ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

पर जो लोग झूठे तर्क करते हैं और मेरे मतके अनुसार बर्ताव नहीं करते उनको सब प्रकारके ज्ञानसे रहित समझो ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार व्यवहार करता है । जीवमात्र अपने अपने

स्वभावके अनुसार रहते हैं। वहां हठ करने-
से भी क्या होगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रियकी किसी न किसी विषय-
से प्रीति और किसी न किसी विषयसे शत्रुता
रहती ही है, उस प्रीति और शत्रुताके चक्करमें
मनुष्य न पड़े; क्योंकि ये भी उसके शत्रु हैं।
(अर्थात् पुरुषको काम-क्रोधादिके वशमें न
होना चाहिये; क्योंकि ये मनुष्यके शत्रु हैं।)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अपना कठिन धर्म दूसरेके सहज धर्मसे
हितकर होता है, स्वधर्ममें मरना भी कल्याण-
कारक है, पर अन्य धर्म भयंकर होता है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

हे यादव! मनुष्यकी इच्छा न रहते हुए भी वह विवश होकर पाप करने लगता है, इसके लिये उसे कौन प्रवृत्त करता है॥ ३६॥

श्रीकृष्ण उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

मनुष्यको पापमें प्रवृत्त करनेवाले काम और क्रोध हैं, इनकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है, यह बड़े पेटू और महापापी होते हैं, इन्हें अपना शत्रु समझो॥ ३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥३८॥

अग्नि जैसे धूएंसे ढकी रहती है, दर्पण

जैसे मलसे ढका रहता है अथवा गर्भ जैसे झिल्लीसे ढका रहता है उसी प्रकार सारा संसार इससे ढका है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कौन्तेय, यह नित्यका शत्रु काम कभी न तृप्त होनेवाली आगके समान है, इसने ज्ञानी पुरुषोंके ज्ञानको भी ढक लिया है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

कहा है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामके आश्रय-स्थान हैं। इनकी सहायतासे यह देही [आत्मा] का ज्ञान छिपा देता है और उसे मोहमें गिराता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे भरतश्रेष्ठ! तुम पहले इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लो और शास्त्रज्ञान तथा अनुभवज्ञानको नष्ट करनेवाले इस भयंकर कामको मार डालो।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

कहा है कि इन्द्रियां भिन्न हैं, इन्द्रियोंसे मन भिन्न है, मनसे बुद्धि भिन्न है और बुद्धि से भी यह देही अथवा आत्मा भिन्न है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इसलिये जानो, कि बुद्धिसे भिन्न जो देही है वही तुम हो और उसको अर्थात् अपनेको ही अपने अधीन करके हे महाबाहो! तुम उस दुर्धर शत्रु कामको मार डालो।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु [illegible] कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

यह अविनाशी योग मैंने सूर्यको बताया था, सूर्यने (अपने पुत्र) मनुको बताया और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुको बताया ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

हे परन्तप, इस प्रकार क्रम क्रमसे यह योग सब राजर्षियोंको मालूम हुआ । अनन्तर समयके प्रभावसे यह लुप्त हो गया ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

यह वही प्राचीन योग है। तुम मेरे भक्त और मित्र हो, इसलिये आज मैंने तुमको बताया, क्योंकि यह रहस्य उत्तम है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है और सूर्यका बहुत दिन पहले हुआ था, इस दशामें मैं यह कैसे मानूं कि तुमने ही यह योग सूर्यको बताया था?

श्रीकृष्ण उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

हे परन्तप, हे अर्जुन, मेरे भी अनेक जन्म हो गये और तुम्हारे भी अनेक हो गये; यह मुझे याद है, पर तुम भूल गये हो।

अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपिसन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि मैं अजन्मा हूं, यद्यपि मेरा स्वभाव शाश्वत है, यद्यपि मैं सब भूतोंका स्वामी हूं, तो भी अपनी प्रकृतिमें स्थित होकर अपनी मायासे मैं जन्म ग्रहण करता हूं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत, जब जब धर्म्म क्षीण होता है और अधर्म्म प्रबल होता है, तब तब मैं जन्म लेता हूं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दुष्टोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युग युगमें जन्म लेता हूं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

जो मेरे इस अलौकिक जन्म और कर्मका तत्त्व जानता है, हे अर्जुन, वह मृत्युके बाद फिर जन्म नहीं लेता, वह मुझे प्राप्त करता है, अर्थात् मुक्ति पाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १० ॥

जिनका प्रेम, भय और क्रोध नष्ट हो गया था, जिनका नेह केवल मुझसे था, जिन्हें मेरा ही आसरा था, ऐसे अनेक मनुष्य ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मुझमें मिल गये।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

जो जिस भावसे मेरा स्मरण करते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकारका फल देता हूं। हे पार्थ! मनुष्य

चाहे जिस मार्गसे उपासना करें, पर अन्तमें वे उसी मार्गपर आते हैं जो मेरे पास आनेका है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

साधारणतः मनुष्य कर्मसिद्धिकी इच्छासे देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि इस मनुष्य-लोकमें कर्म बहुत शीघ्र सिद्ध होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् १३॥

गुण और कर्मके भेदोंके अनुसार मैंने चार प्रकारके वर्णोंकी रचना की है। यद्यपि मैं उन-का कर्त्ता हूं, तो भी मैं कुछ नहीं करता, मुझे श्रम आदि विकार नहीं होते।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

मुझे कर्म बद्ध नहीं कर सकते और मैं कर्म-

फलकी इच्छा भी नहीं करता, इसी प्रकार जो मुझे भली भांति जानता है वह भी कर्ममें बद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

यह जानकर प्राचीन समयके मुमुक्षुओंने भी कर्म किया था इसलिये पहलेके लोगोंने जो कर्म किया था वही तुम भी करो।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्

वस्तुतः कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका विचार करनेमें विद्वान् भी घबरा जाते हैं, इसलिये कर्म क्या है, यह मैं तुमको बताता हूं। इसके जाननेसे तुम दुःखोंसे छुटकारा पा जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्म भी जानना चाहिये, विकर्म अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कर्म किसे कहते हैं यह भी जानना चाहिये और अकर्म अर्थात् कर्मसे मुक्त कैसे रहा जाता है यह भी जानना चाहिये। कर्मकी गति अत्यन्त गहन—गंभीर है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

स्वधर्मविहित कर्म अकर्म है अर्थात् वह करके भी न कियेके समान है—उसके करनेसे कर्म करनेका दोष नहीं होता, पर साधारण लोगोंके मतसे कुछ न करना ही अकर्म है, वैसी दशामें अकर्ममें भी कर्म होता है—कुछ न करनेवालेको कर्म करनेका दोष लगता है। यह जाननेवाला सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् और कर्म करते रहनेपर भी योगी है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

जो फलकी इच्छा किये बिना कर्म करता है, जिसके कर्म ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध (निर्मल) हुए हैं, ज्ञानी उसको ही पण्डित कहते हैं ॥१६॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

कर्मफलकी आशा छोड़कर जो सर्वदा सन्तुष्ट और निराश्रित रहता है और "मैं"पनसे मुक्त हो जाता है वह चारों ओरसे कर्मोंसे घिरा रहनेपर भी कुछ भी नहीं करता, अर्थात् निर्दोष रहता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

जिसकी सब वासनाएं नष्ट हो गयी हैं, जिसका चित्त और शरीर वशमें है, जो सब सांसारिक बखेड़ोंसे अलग हो गया है वह यदि केवल ऐसे कर्म्म करे जो शरीरके जीवित रहने

के लिये आवश्यक हैं तो उसे उन कर्मोंका दोष नहीं लगता ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥

दैवयोगसे जो कुछ मिल जाय उसीपर जो सन्तुष्ट रहता है अर्थात् स्वार्थसिद्धिके लिये उद्योग नहीं करता, जो हर्ष शोक आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त है, किसीसे ईर्ष्या नहीं करता, लाभ और हानि दोनों ही जिसके लिये समान हैं वह कर्म करे भी तो वे कर्म उसे बद्ध नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो वासना-रहित हो गया है, राग-द्वेषादि-से जो मुक्त हो गया है, जिसको प्राकृत ज्ञान प्राप्त हुआ है और केवल यज्ञके लिये कर्म करता

है उसके समस्त कर्म लुप्त हो जाते हैं—उसे कर्म-दोष नहीं लगता।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

जो पुरुष यज्ञपात्रको ब्रह्म समझता है, अग्निको ब्रह्म समझता है, यजमानको ब्रह्म समझता है, होमक्रियाको ब्रह्म समझता है, इस प्रकार ब्रह्ममें ही जिसकी एकाग्रता हो गयी है उसको ब्रह्म-प्राप्तिरूप ही फल मिलता है—वह ब्रह्ममय हो जाता है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कोई तो देवताओंके लिये यज्ञ करते हैं अर्थात् देवताओंको आहुति देते हैं, कोई ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप पदार्थोंका ही होम करते हैं

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति

और कोई आत्म-संयम-रूप अग्निमें नाक-कान आदि इन्द्रियोंका हवन करते हैं तथा कोई इन्द्रियरूप अग्निमें शब्दादि विषयोंकी आहुति देते हैं। (प्रथम श्रेणीके पुरुष आत्मसंयम करते हैं और दूसरी श्रेणीके इन्द्रिय-दमन)।।२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अन्य प्रकारके कुछ लोग आत्मामें ध्यानकी एकाग्रतारूप अग्निको ज्ञानरूप साधनोंसे प्रदीप्त (सुलगा) कर उसमें सब इन्द्रियों और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८॥

कोई धन-दानरूप यज्ञ करते हैं, कोई तपरूप यज्ञ करते हैं, कोई योगरूप यज्ञ करते हैं और कोई कठोर व्रत कर बड़े परिश्रमसे वेदाध्ययन-

रूप अथवा ज्ञानार्जनरूप यज्ञ करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

अपानवायु और प्राणवायुकी गति बन्द कर प्राणायाम करनेवाले अपानवायुमें प्राणवायुका और प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करते हैं ॥ २९ ॥

(अपानवायुमें प्राणवायु मिलानेको "पूरक" और प्राणवायुमें अपानवायु मिलानेको "रेचक" विधि कहते हैं। प्राण और अपान, नीचे जानेवाले और ऊपर आनेवाले, दोनों प्रकारके वायुकी गति रोककर, प्राणोंकी क्रिया सर्वथा रोककर, प्राणायाम किया जाता है इसे "कुम्भक" विधि कहते हैं।)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०

नियमसे ही आहार ... प्राणों

प्राणोंका यज्ञ करते हैं। ये सब प्रकारके यज्ञ करनेवाले यज्ञके साधनोंसे अपने अपने पापों-का नाश करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञसे बचा हुआ अन्न और यज्ञसे बचे हुए समयमें सिझाया हुआ अन्न अमृतके समान है। यह अन्न खानेवाले पुरुष सनातन ब्रह्म प्राप्त करते हैं। जो यज्ञ नहीं करता उसका इहलोक भी बिगड़ जाता है और परलोककी तो बात ही जाने दो॥ ३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्मने वेद-मुखसे कहे हैं, इन सबका मूल कर्म है यह तुम जान लो तब संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाओगे ३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप! हे पार्थ! द्रव्यमूलक यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमूलक यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मके फलोंका अन्तर्भाव ज्ञानके फलोंमें होता है अर्थात् सब कर्मोंका फल ज्ञानसे मिलता है।)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

जान लो कि ज्ञानी पुरुषोंको बारम्बार नमस्कार करनेसे, उनसे फिर फिर प्रश्न करनेसे, उनकी सेवा करनेसे वे तुमको इस ज्ञानका उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

हे पाण्डव, यह ज्ञान होनेसे तुम्हारे मनमें ऐसा मोह फिर कभी उत्पन्न न होगा और

समस्त जीवोंको तुम अपनेमें और मुझमें सम-दृष्टिसे देखने लगोगे।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

कल्पना करो कि तुम सब पापियोंसे बड़े पापी हो तो भी इस ज्ञानरूप नौकाकी सहायतासे तुम सहजमें ही इस पाप-समुद्रके पार जा सकोगे।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे अर्जुन! जैसे प्रदीप्त अग्नि काठको जलाकर भस्म कर डालती है उसी प्रकार यह ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको जला डालती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र और कुछ

भी नहीं है। कर्मयोगी उचित समयपर आप ही आप आवश्यक योग्यता प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

जिसमें श्रद्धा है, जिसका एकमात्र ज्ञानपर ही दृढ़ विश्वास है, जिसने इन्द्रियोंका दमन कर उन्हें अपने अधीन कर लिया है उसीको ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त होनेसे उसे परम शान्ति मिलती है ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

जो अज्ञानी है और जिसमें श्रद्धा नहीं है, जिसका मन सदा सन्देहयुक्त रहता है, उसका नाश होता है। सन्देही पुरुषके इहलोक और परलोक दोनों ही बिगड़ते हैं और उसे कभी सुख नहीं होता ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥४१॥

हे धनञ्जय, योगके द्वारा जिसने कर्मका त्याग किया है और ज्ञानके द्वारा सन्देहोंका समूल नाश किया है उस आत्मज्ञानी पुरुषको कर्मबन्धन प्राप्त नहीं होते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

इसलिये, हे भारत, उठो! अज्ञानके कारण तुम्हारे चित्तमें जो सन्देह उत्पन्न हुआ है उसे ज्ञानरूप शस्त्रसे काट डालो और योगका आश्रय ग्रहण करो।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० ज्ञान-कर्म-संन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

अथ पञ्चम अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

हे कृष्ण,तुम एक बार तो कर्मके संन्यासकी अर्थात् कर्मत्यागकी प्रशंसा करते हो और फिर योगकी अर्थात् कर्म करनेकी प्रशंसा करते हो, पर इन दोनोंमें निश्चितरूपसे जो हितकर हो वही मुझे बताओ ।

श्रीकृष्ण उवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों ही मोक्ष देनेवाले हैं, पर इन दोनोंमें कर्म-संन्यास अर्थात्

त्यागकी अपेक्षा कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्मका आचरण श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

जो न किसीसे शत्रुता करता है और न जिसे किसीकी आकांक्षा है वह नित्य संन्यासी कहाता है, क्योंकि हे महाबाहो! जो राग-द्वेषादिसे मुक्त है वह बन्धनोंसे भी सहज ही छूट जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४॥

संन्यास अर्थात् सांख्यमार्ग और योग अर्थात् कर्ममार्ग, इन दोनोंको मूर्ख ही भिन्न कहते हैं, पण्डित नहीं कहते। दोमें एकका भी यदि उत्तम रीतिसे आश्रय लिया जाय तो दोनोंका फल मिलता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति

जो पद सांख्योंको (ज्ञानियोंको) मिलता है वही योगियोंको भी मिलता है। सांख्य और योगको जो एक समझता है उसीका ज्ञान उत्तम है॥ ५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥६॥

हे महाबाहो! योगके बिना संन्यासका होना कठिन है, पर योगयुक्त मुनिको संन्यास भी साध्य होता है और शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति भी होती है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्व भूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

जो योगयुक्त है उसका चित्त शुद्ध होता है, शरीर और इन्द्रियोंपर उसका प्रभुत्व रहता है,

वह जीवमात्रको अपने समान समझता है और कर्म करते रहनेपर भी कर्म-दोषसे अलिप्त रहता है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

योगयुक्त पुरुष ही तत्व जानता है, वह जानता है कि मैं कुछ नहीं करता। देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, देते और लेते तथा आँखें खोलते और बन्द करते भी मनुष्यकी इन्द्रियां सब अवस्थाओंमें अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त रहती हैं, यह बात वह अच्छी तरह जानता है ॥८॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो कर्मफलकी इच्छा न करते हुए कर्म करता है और सब कर्म ब्रह्मको अर्पण करता है वह पापसे वैसे ही अलग रहता है जैसे कमलपत्र पानीसे अलग रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

योगी, शरीर मन बुद्धि और केवल इन्द्रियों-से भी, वासना त्यागकर चित्त-शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

युक्तःकर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

योगी कर्म-फलकी इच्छा त्यागकर, परमेश्वरमें श्रद्धा रखकर परम शान्ति प्राप्त करता है। योगहीन पुरुष लोभके वशमें होकर कर्म-फलकी इच्छा करता है और इसीसे बद्ध हो जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

जिसका चित्त वशमें है वह मनुष्य मनसे सब कर्मोंका त्याग कर इस शरीररूप नौ द्वारोंके नगरमें बिना कुछ किये कराये ही सुखसे रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

परमात्मा किसी मनुष्यका न कर्तृत्व ही बनाता है, न कर्म और न वह कर्त्ताको कर्मका फल देनेकी व्यवस्था ही करता है, यह सब माया करती है।

(नित्य, शुद्ध और निर्विकार ब्रह्म न किसीमें यह अभिमान ही उत्पन्न करता है कि "मैं कर्म करनेवाला हूं," न वह किसीसे कर्म करनेको कहता है अथवा न किसीको कर्मफल देता है, ये सब [illegible] मायाके हैं।)

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

संसारका स्वामी होनेपर भी परमेश्वर किसीको न पाप देता है न पुण्य, ज्ञान अज्ञानसे ढक गया है इसीसे जीव मोहमें फँसते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

आत्मज्ञानसे जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है उसका ज्ञान परमेश्वरके स्वरूपको वैसे ही प्रदर्शित करता है जैसे सूर्य्य समस्त सृष्टिको प्रकाशित करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

उस (परब्रह्ममें) ही जिनकी बुद्धि लग जाती है, जो उसीको अपनी आत्मा समझते हैं, एकमात्र उसीमें जिनकी श्रद्धा है और

उसीको जो परम पुरुषार्थ समझते हैं उनके सब पाप आत्मज्ञानसे धो डाले जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ज्ञानी समदर्शी होते हैं, वे विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणको, बैलको, हाथीको, कुत्तेका मांस खानेवाले चाण्डालको और कुत्तेको एक ही दृष्टिसे देखते हैं॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिनके मनमें इस प्रकारकी समता उत्पन्न हो गयी है उन्होंने इस लोकमें रहकर ही संसारको जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान है, इसलिये वे ब्रह्ममें मिल गये हैं॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

जिसने ब्रह्मको जाना और ब्रह्ममय हो गया वह प्रियके मिलनेसे आनन्दित भी नहीं होता तथा अप्रिय प्राप्त होनेसे दुःखित भी नहीं होता। बाहरी पदार्थोंमें चित्तको आसक्त न होने देकर जो भीतरी सुखका अनुभव करता है वह ब्रह्ममें अन्तःकरणको मिलाकर अक्षय सुख-लाभ करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

जो भोग इन्द्रियोंके स्पर्शसे होते हैं वे वस्तुतः दुःखदायी होते हैं, उनका प्रारम्भ भी है और अन्त भी है। हे कौन्तेय! ज्ञानी ऐसे भोगोंमें कभी नहीं रमता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

जो मनुष्य इस लोकमें रहते ही शरीरत्याग-के पहले काम और क्रोधकी उत्तेजनाका दमन कर सकता है वही योगी है—वही सुखी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

जिसको भीतरी सुख, भीतरी आनन्द और भीतरी प्रकाश प्राप्त हुआ है वह योगी ब्रह्म-रूप होकर ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। जिनको सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनका मन अपने अधीन हुआ है, जीवमात्रका हित ही जिनका व्रत है वे ब्रह्ममें मिल जाते हैं॥२४॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

जो काम और क्रोधसे दूर हो गये हैं जिनकी कर्ममें वासना नहीं है, जिनका चित्त भली-भांति अपने अधीन हो गया है, जिनको आत्मा-का तत्व मालूम हो गया है उनको बैठे बिठाये ब्रह्मनिर्वाण मिलता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

बाहरी विषयोंके स्पर्शसे अलग होकर दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टि लगाकर, प्राणवायु और अपान वायुको एकसा बनाकर जो मनुष्य मन

इन्द्रियों और बुद्धिको अपने अधीन कर लेता है, इच्छा भय और क्रोधको जिसने दूर कर दिया है, जिसे मोक्ष ही एकमात्र उपार्जन करयोग्य पदार्थ मालूम होता है वह सर्वदा मुक्त ही है। मैं यज्ञ और तपस्याका भोक्ता हूं, सब जगतका परमेश्वर हूं, सब प्राणियोंका मित्र हूं, यह जो जानता है वही शान्ति पाता है।

इति श्री मद्भगवद्गीता० कर्म-संन्यासयोगोनाम पञ्चमोऽध्यायः।

——

अथ षष्ठ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

कर्मफलकी इच्छा त्यागकर जो कर्त्तव्य-

कर्म करता है वही सच्चा संन्यासी अर्थात् त्यागी और सच्चा योगी है। केवल अग्निहोत्र और कर्मका त्याग करनेवाला मनुष्य ही संन्यासी नहीं कहाता ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं वह वास्तवमें योग ही है, क्योंकि जिसने अपनी समस्त वासनाओंका संन्यास अर्थात् त्याग नहीं किया है वह योगी भी नहीं है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

जो मुनि योग प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये उसका साधन कर्म ही बतलाया गया है और जो योग प्राप्त कर चुका है उसका ज्ञान पूर्ण होनेका साधन चित्तका समाधान है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जिस समय वह विषयों और कर्मोंकी आसक्तिसे छूट गया और सब वासनाओंसे विमुक्त हो गया उसी समय उसका योग भी सिद्ध हो गया—यही ज्ञानी जनोंका मत है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

स्वयं अपनेको उन्नत करना चाहिये—अवनत होनेसे रोकना चाहिये, क्योंकि मनुष्य आप ही अपना मित्र और शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिसने अपने ही विचारसे अपने मनको स्वाधीन कर लिया है वह अपना हितकर्त्ता है और जिसने विवेकका त्याग किया है वह

स्वयं ही अपनेसे शत्रुता करता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने अपने मनको जीत लिया है और शान्ति पायी है उसकी आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान होते हुए भी अत्यन्त स्थिर रहती है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥८॥

जिसने शास्त्रज्ञानसे और अनुभवज्ञानसे अपने अन्तःकरणको तृप्त किया है, जो निर्विकार हो गया है अर्थात् सुख-दुःखादि जिसे विचलित नहीं कर सकते, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, जिसके लिये मिट्टीका ढेला पत्थर और सोना समान है वही योगी कहाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करनेयोग्य, बान्धव, साधु और पापी—इन सबको जो सम दृष्टिसे देखता है, वह अधिक श्रेष्ठ है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगीको एकान्तमें रहकर मन और देह, दोनोंको भलीभांति वशमें करके, वासनाओंको दूर कर, समस्त प्रपञ्चका त्याग कर मनको शान्त रखना चाहिये।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

योगीको निर्मल स्थानमें आसन लगाना

चाहिये। आसन अधिक ऊंचा वा नीचा न होना चाहिये। उसपर कुशा, तिसपर व्याघ्रादि-का चर्म और उसपर वस्त्र बिछाकर बैठना चाहिये तथा चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएं रोककर, मनको एकाग्र कर, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योग करना चाहिये ॥११॥१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

शरीर, मस्तक और गर्दन यथास्थान रखकर, निश्चल होकर, इधर-उधर न देखते हुए, शान्त-चित्त हो, अपनी नाकके अग्रभागपर भलीभांति दृष्टि लगाकर, अन्तःकरणको शान्त रखकर, भयको त्यागकर, ब्रह्मचर्य धारण कर, मनको अपने अधीन कर, चित्तको मुझमें लगाकर

और मुझे ही सर्वस्व समझकर योगसाधन करना चाहिये ॥ १३ ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

इस प्रकार चित्तका निरोध कर जो सब समय मनको अपने अधीन रखता है, वह मुझमें मिलकर अन्तमें परम निर्वाण पाता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

हे अर्जुन ! जो बहुत खाता है या बिलकुल नहीं खाता, बहुत सोता है या सोता ही नहीं, उसका योग सिद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

जो उपयुक्त आहार-विहार करता है, कर्मोंका उचित प्रकारसे पालन करता है, जो यथा-

समय सोता और जागता है, उसका योग उसके सब दुःखोंका नाश करता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

जब उसके चित्तका संयम होता है और वह अपनेमें ही निश्चल हो जाता है, तब वह 'युक्त' अर्थात् योगी-पदको पा जाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

(एक उदाहरण दिया जाता है कि) जैसे वायु-रहित स्थानमें दीप निश्चल—स्थिर रहता है,उसी प्रकार योगी अपने चित्तको निश्चल रखकर उसका संयम करता है और अन्तः-करणकी समाधि लगाता है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

जिस अवस्थामें योगाभ्यासके कारण चित्त-का वेग रुककर विषयोंसे अलग होने लगता है, जब मनुष्य शुद्ध चित्तसे आत्माको ही देख-कर आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

जिस अवस्थामें वह सुख पाता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है, जो केवल बुद्धिसे जाना जाता है, पर इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता और जिस दशामें मनुष्य आत्मरूपसे विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

जो दशा दुःखसे इतनी दूर है कि मनुष्यको

उसके मिलनेपर उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ ही नहीं मालूम होता और जिस दशामें रहते मनुष्यको विचलित करना बड़ेसे बड़े दुःखके लिये भी असम्भव हो जाता है, उस अवस्थाको योग कहते हैं। आलस्यहीन होकर और मनका दृढ़ निश्चय करके योगका अभ्यास करना चाहिये ॥ २२ ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

संकल्प उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं-का त्याग कर इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियों-को मनके अधीन कर,

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

धैर्यके द्वारा बुद्धिको अपने अधीन कर धीरे धीरे विषयोंसे दूर हटना चाहिये, मनको

भलीभाँति आत्मामें स्थिर करना चाहिये और किसी भी बातकी चिन्ता न करते हुए शान्त हो जाना चाहिये ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

चञ्चल और अस्थिर मन जिधर जिधर जाय उधर उधरसे उसे खींच लाकर आत्माके वशमें करना चाहिये ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

काम-क्रोध उत्पन्न करनेवाला रजोगुण शान्त होकर जिसका मन अपने अधीन हो गया है, उस ब्रह्मरूप निष्पाप योगीको ही उत्तम सुख प्राप्त होता है ।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

इस प्रकार मनको सर्वदा अधीन रखनेसे जो पापसे मुक्त हो गया है, उस योगीको ब्रह्मके साक्षात्कारका असीम सुख अनायास ही मिलता है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

जिसका मन योगमें स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि भी सर्वत्र समान रहती है और वह अपनेको सब भूतोंमें तथा सब भूतोंको अपनेमें देखता है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

जो सबमें मुझको और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

जो अभेद भावसे रहता है और सभी भूतों-में मैं हूं, यह जानकर मेरा भजन करता है, वह योगी चाहे जिस अवस्थामें रहे, पर उसके बर्त्ताव ऐसे ही होते हैं कि मुझे प्रिय हों।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

हे अर्जुन, जो यह जानकर कि मेरे जैसा ही औरोंको भी सुख-दुःख होता है, सबको सम दृष्टिसे देखता है, वही श्रेष्ठ योगी है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

हे मधुसूदन, अपने समान सबको समझ-नेका योग तुमने बताया तो सही, पर मनकी चञ्चलताके कारण वह मुझमें स्थिर नहीं हुआ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण, मन अत्यन्त चञ्चल, उच्छृङ्खल, बलवान और अत्यन्त कठिन है। उसका बांधना हवाको बांधनेके समान ही अत्यन्त कठिन मालूम होता है।

श्रीकृष्ण उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

हे महाबाहो, मन अत्यन्त चञ्चल होता है और उसको बांधना अत्यन्त कठिन है, इसमें संदेह नहीं, पर हे कौन्तेय! अभ्याससे और वैराग्यसे वह भी अधीन किया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

मेरा मत है कि जिसके मनका संयम नहीं हुआ है, उसके लिये योग दुर्लभ है, पर जिसका मन अपने अधीन हुआ है, वह यदि मेरे

कहनेके अनुसार यत्नपूर्वक उपाय करे तो योग प्राप्त कर सकता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

हे कृष्ण ! मान लो कि कोई मनुष्य श्रद्धावान है, पर उसके मनका संयम नहीं हुआ है, इसलिये वह योगसे विचलित हो गया है, उसका योग तो सिद्ध नहीं हुआ, पर उसकी दूसरी गति कौनसी होगी ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

हे महाबाहो ! जिसका पहला आश्रय भी गया और ब्रह्मप्राप्ति भी नहीं हुई, वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर विच्छिन्न मेघके समान नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! मेरा यह सन्देह तुमको ही दूर करना होगा, क्योंकि यह सन्देह दूर करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं है ।

श्रीकृष्ण उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

हे तात पार्थ ! उसका यहां भी नाश न होगा और परलोकमें भी नहीं होगा, क्योंकि उत्तम कार्य करनेवाले किसी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती ।

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

वह जीव उन लोकोंमें बहुत दिनतक वास करता है, जिनमें पुण्यात्मा जाते हैं और अनन्तर वह योगभ्रष्ट किसी पवित्र श्रीमानके यहां जन्म ग्रहण करता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वह बुद्धिमान योगीके यहां ही जन्म लेता है। ऐसी जगह जन्म पाना भी तो इस लोकमें दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

पूर्वजन्ममें उसकी बुद्धिपर जो संस्कार हुए थे, इस जन्ममें उसे वे फिर प्राप्त होते हैं और वह उत्तम सिद्धिके लिये फिर प्रयत्न करने लगता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अनेक बाधाओंमें पड़नेपर भी पूर्वजन्मका अभ्यास उसे अपनी ओर खींचता है और यद्यपि उसकी [illegible] योग [illegible]जानेमात्रकी हो तो भी

वह शब्दब्रह्म अर्थात् वेदके भी परे जाकर मुक्ति पाता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक जो योगाभ्यास करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर अनेक जन्मोंके लिये योगके फलरूप उत्तम ज्ञान प्राप्त कर अन्तमें उत्तम गतिको पाता है॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

तपस्वियोंसे योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ है और फलकी आशासे कर्म करनेवालों-से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन, तुम योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

और योगियोंमें भी जो अपने अन्तःकरणको मुझसे मिलाकर श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है, उसे मैं सबसे अधिक श्रेष्ठ समझता हूं।

इतिश्रीमद्भगवद्गीता० आत्म-संयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

अथ सप्तम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

हे पार्थ ! मुझमें मनको स्थिर करके मेरा ही आश्रय ग्रहण कर जिस समय तुम योगसाधन करते रहोगे, उस समय जिस रीतिसे तुम मुझे सन्देहरहित होकर भलीभांति जान सकोगे, मैं तुम्हें वह रीति बताता हूं, उसको ध्यान देकर सुनो ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

मैं तुम्हें शास्त्रका और अनुभवका, दोनों प्रकारका ज्ञान बताऊंगा। इनके जान लेनेके बाद इस लोकमें जाननेयोग्य और कुछ न रहेगा॥ २॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों पुरुषोंमें एकाध ही सिद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है और जिनको सिद्धि प्राप्त हुई है, उनमें भी एकाध ही मनुष्य वस्तुतः मुझे जानता है॥ ३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

मेरी प्रकृतिके आठ भाग हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

हे महाबाहो! यह प्रकृति अपरा अर्थात् निकृष्ट है। इससे भिन्न जो मेरी परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है, उसे भी जान लो, वह जीवरूपा है और इस जगत्को आधार उसीका है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥

स्मरण रखो कि यह दोनों प्रकृतियां ही सर्वभूतोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं। समस्त जगत्को उत्पन्न और नष्ट करनेवाला मैं हूं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

हे धनञ्जय, मुझसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। सूतके द्वारा जैसे सब मणि पिरोये जाते हैं, उसी प्रकार यह सब जगत् मेरे द्वारा पिरोया गया है।

रसोहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धःपृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९॥

हे कौंतेय! जलमें रस मैं हूं,सूर्य और चन्द्रमें प्रकाश मैं हूं, वेदोंमें प्रणव मैं हूं,आकाशमें शब्द मैं हूं, पुरुषोंमें पराक्रम मैं हूं, पृथ्वीमें पुण्यमय गन्ध मैं हूं, अग्निमें तेज मैं हूं, सब भूतोंका जीवन मैं हूं, और तपस्वियोंका तप मैं हूं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

हे पार्थ! जान लो कि सब भूतोंका सनातन बीज मैं हूं, बुद्धिमानोंकी बुद्धि मैं हूं, तेजस्वियोंका तेज मैं हूं ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११॥

हे भरतश्रेष्ठ, बलवानोंमें काम और रागसे अर्थात् अभिलाषा और लोभसे रहित जो सात्विक बल रहता है, वह मैं हूं और धर्मानुकूल काम भी मैं हूं ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जान रखो कि ये समस्त सात्त्विक, राजस और तामस पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, तो भी मैं उनमें नहीं हूं, पर वे मुझमें हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

तीनों गुणोंसे व्याप्त इन अनेक पदार्थोंने समस्त जगत्को मोहमें डाल रखा है, इसलिये जगत् यह नहीं जानता कि मैं इन तीनोंसे अलग और अविकल हूं ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी यह अति दिव्य और त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। जो अनन्य भावसे मेरा ही भजन करते हैं, वे ही इसका पार पा सकते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ़ और अधम पुरुषोंका ज्ञान मायाके कारण नष्ट होकर उनका स्वभाव आसुरी (राक्षसी) हो जाता है, इसलिये वे मेरी उपासना नहीं करते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, पुण्यवान् ही मेरा भजन करते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं—(१) आर्त्त अर्थात् रोगी, (२) जिज्ञासु अर्थात् तत्त्व जाननेकी इच्छा करनेवाले,(३) अर्थार्थी अर्थात्

भोग-विलास चाहनेवाले, और (४) ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

इनमें सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी है, क्योंकि उसका चित्त सब समय मेरी ओर लगा रहता है और वह केवल मेरी ही भक्ति करता है। ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूं और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

ऐसे तो ये सभी उत्तम हैं, पर इनमें भी ज्ञानीको मैं अपनी आत्मा ही समझता हूं, क्योंकि वह मुझमें चित्त लगाकर, मुझे ही सर्वोत्तम गति समझकर मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

बहुत जन्मोंके बाद यह जानकर कि वासुदेव ही सब कुछ है, ज्ञानी पुरुष मेरा भजन करता है. पर ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

भिन्न भिन्न वासनाओंने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, वे अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार अन्यान्य देवताओंका भजन करते हैं और उन देवताओंके नियमोंमें आबद्ध होते हैं ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

जो पुरुष जिस देवताकी भक्ति करके आराधना करना चाहता है, उसकी श्रद्धा उस देवतामें मैं ही स्थिर करता हूं ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्॥

वह उसी श्रद्धासे युक्त होकर उसकी आरा-धना करता है और उन कामनाओंका मैंने ही जो फल निश्चित कर रखा है, वही उस देवता-से पाता है ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

पर वैसे अल्पबुद्धि मनुष्योंको कामनाओंका जो फल मिलता है, वह नाशवान है। देवता-ओंके भक्त देवताओंके पास और मेरे भक्त मेरे पास आते हैं ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मैं अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट हूं, पर कम बुद्धि-वाले मनुष्य मुझे देहधारी समझते हैं। मेरी नित्य और अत्युत्तम स्थिति वे नहीं जानते।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

मेरे चारों ओर योगमायाका पर्दा है, इसलिये मैं सबको प्रकट दिखायी नहीं देता। यह जगत् मोहमें पड़ा है, इसलिये वह नहीं जानता कि मैं अनादि और अव्यक्त हूं ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

हे अर्जुन, जो इसके पहले हो गये, जो इस समय हैं और जो आगे होंगे, उन जीवोंको मैं जानता हूं, पर वे मुझे नहीं जानते ॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

हे परन्तप भारत, इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखोंके कारण जीव मूढ़से हो जाते हैं और इसलिये इस संसारकी मायामें ही फंस जाते हैं ।२७॥

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

पर पुण्यकर्मोंसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्य सुख-दुःखादिके मोहसे छुटकारा पाकर दृढ़ निश्चयके साथ मेरी ही आराधना करते हैं ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मचाखिलम्।

बुढ़ापा और मृत्युसे बचनेके लिये जो मेरा आश्रय ग्रहण कर दीर्घ उद्योग करते हैं, वे वह ब्रह्म जानते हैं, समस्त अध्यात्म जानते हैं और सब कर्म जानते हैं ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

जो मुझमें चित्त लगाकर यह जानते हैं कि मैं अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञसे युक्त हूं, उनको देहत्याग करनेके समय भी मेरा स्मरण होता है ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः

अथ अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥२॥

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म किसे कहते हैं, अध्यात्मका अर्थ क्या है, कर्मका क्या अर्थ है, अधिभूत किसको कहते हैं और अधिदेव क्या है? हे मधुसूदन, इस देहमें अधियज्ञ कैसा होता है और कौन होता है? जिसने अपने चित्तको वशमें किया, उसे अन्तसमय तुम्हारा स्मरण कैसे होता है?

श्रीकृष्ण उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४॥

ब्रह्म परम अक्षरको कहते हैं, अर्थात् सबसे श्रेष्ठ और कभी विनाश न होनेवालेको ब्रह्म कहते हैं। उसीका जो भाव जीवरूपसे प्रकट होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं। चराचरकी जिससे उत्पत्ति और वृद्धि होती हैं, उस आचरणको कर्म कहते हैं। सब भूतोंमें मिला हुआ जो नश्वर भाव अर्थात् नाश होनेवाला शरीर है, वही अधिभूत है। विश्वरूप जो विराट पुरुष है, वही अधिदैवत अर्थात् सबसे श्रेष्ठ दैवत है। और हे पुरुषश्रेष्ठ, इस देहमें मैं ही अधियज्ञ अर्थात् सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ हूं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

और जो अन्तसमय मेरा स्मरण करके देहत्याग करता है, वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। केवल यही नहीं, पर हे कौन्तेय, जिसके चित्तपर जिस वस्तुका दृढ़ संस्कार होता है, उसको मरणसमय उसी वस्तुकी याद आती है और वह उसी वस्तुसे जा मिलता है। इसलिये सब समय मन और बुद्धि मुझमें लगाकर मेरा ध्यान करो और युद्ध करो, ऐसा करनेसे तुम भी निस्सन्देह मुझमें मिल जाओगे।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

हे पार्थ, जो मनुष्य अपने चित्तको इधर उधर कहीं भटकने न देकर, अभ्यासके उसे

एकाग्र कर परम प्रकाशमय पुरुषका चिन्तन करता है, वह उसमें मिल जाता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

जो अन्तसमय स्थिर मन कर, भक्तियुक्त हो-कर योगबलसे दोनों भौंहोंके बीच प्राणोंको स्थिर करता है और सर्वज्ञ, अनादि, सबके संचालक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबके पालन करने-वाले, अचिन्त्यरूप, सूर्यको भी प्रकाश देने-वाले, तमोगुणसे दूर रहनेवाले, दिव्य परम

पुरुषका सतत चिन्तन करता है, वह देहत्याग-के बाद उसीमें मिल जाता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

जिस प्राप्य पदार्थको वेद जाननेवाले अक्षर कहते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिये ब्रह्म-चर्य्यसे रहते हैं और संसारसे विरक्त होकर बड़े प्रयत्नसे जिसमें मिलते हैं, उस पदार्थका परिचय तुम्हें संक्षेपमें देता हूं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥

जो मनुष्य सब द्वार बन्द कर, मनको आत्मामें स्थिर कर, ललाटके भीतर—भौंहोंके बीच—अपने प्राणवायुको निश्चल कर योगा-भ्यासमें स्थिर होता है ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

और निर्विकार ब्रह्मके वाचक ॐ, इस एकाक्षरका उच्चारण तथा मेरा स्मरण करता हुआ देहत्याग करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

हे पार्थ, जो अनन्यगति होकर सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है, उस सदा सन्तोषयुक्त योगीको सहजमें मेरी प्राप्ति होती है। जिनको मैं मिला, वे महात्मा हैं, उनको सबसे बड़ी सिद्धि मिल गयी, उनको दुःखमूल और अस्थायी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता ॥१४-१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक जितने लोक हैं, उन सबकी उत्पत्ति होती है और लय भी होता है; पर जो मुझमें मिला, उसका फिर जन्म नहीं होता॥ १६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

चारों युग जब एक हजार बार होते हैं, तब ब्रह्माका एक दिन होता है और उतने ही समयमें ब्रह्माकी एक रात होती है, यह जाननेवाले ही वस्तुतः दिन-रातका तत्त्व जानते हैं॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

ब्रह्माका दिन होनेपर अव्यक्तसे सब व्यक्तियोंका उदय होता है और रातको उसीमें लय हो जाता है। समस्त चराचर वस्तुओंका यह समुदाय इसी प्रकार बार बार दिनको उदय होता है और रातको लय होता है।

परस्तस्मात्तु भावोन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

पर इनमें जो एक सनातन अव्यक्त है, वह उस व्यक्तसे श्रेष्ठ है। चराचरका नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। अव्यक्तको ही "अक्षर" कहते हैं, उसीको परमगति कहते हैं, वही मेरा परमधाम है, जिसके प्राप्त होनेसे फिर जन्म नहीं होता॥२०॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

हे पार्थ! जिसमें ये सर्वभूत हैं और जिसकी सामर्थ्यसे यह सब चल रहा है, वह परम पुरुष अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होता है। हे भरतश्रेष्ठ! किस समय देहत्याग करनेसे योगी फिर वापस नहीं आते और किस समय त्यागनेसे फिर आते हैं, अब मैं वह समय बताता हूं ॥२२॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनं।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥

अग्नि, ज्योति अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमें मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मको पाते हैं (लौटकर नहीं आते)। धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिण

यनके छः महीनोंमें मरा हुआ (कर्मयोगी) योगी चन्द्रके तेजमें अर्थात् लोकमें जाकर (पुण्यांश घटनेपर) लौट आता है ॥२४॥ २५॥

धूम्ररूप वासनारहित, निश्चल और ज्योतिःस्वरूप जो मन है, उसका नाम 'अग्निर्ज्योति' है। दिनकी भांति निरन्तर ज्ञानमें जागृतिका नाम ही 'अहः' है जैसा कि दूसरे अध्यायके श्लोक ६९ में लिखा है, "या निशा..."। शुक्लपक्षकी रात्रिकी निर्मल और शान्त चांदनीकी भांति मनकी अवस्था ही यहांपर 'शुक्लपक्ष' है। चित्तकी पूर्ण ज्ञानमय स्थितिका नाम ही 'षण्मासा उत्तरायण' है। उत्तरायण-कालमें पृथ्वीके उत्तर ध्रुवके पास सूर्यका प्रकाश छः मासतक निरन्तर बना रहता है, इसीकी तुलना पूर्णज्ञानियोंके साथ की है। इसके विपरीत वासनासहित मनकी स्थिति धूम है, ज्ञानसे विमुख होकर मोहमय निद्रामें सोना 'रात्रि'

है, अंधेरी रातकी भांति मनकी मलिन स्थिति ही 'कृष्णपक्ष' है और अज्ञानरूपी अंधकारमय अवस्थामें शरीरत्यागकी ही 'षण्मासा दक्षिणायन' से तुलना की है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥

संसारकी नित्य चलनेवाली शुक्ल और कृष्ण नामकी दो गतियां हैं। विद्वानोंका मत है कि एक गतिसे जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गतिसे जानेवालेको लौटना पड़ता है ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

योगी इन दोनों गतियोंका तत्व जानते हैं, इसलिये वे मोहमें नहीं पड़ते। इससे हे अर्जुन ! तुम सब समय योगयुक्त रहो।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

योगी यह सब जानता है, इसलिये वेदोंमें, तपोंमें जो पुण्यफल बताया गया है, उन सब-से अधिक ऐश्वर्य वह प्राप्त कर लेता है और सर्वोत्तम आद्यस्थान पाता है।

इतिश्रीमद्भगवद्गीता॰ अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः।

अथ नवम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

तुममें ईर्षा नहीं है, इसीसे मैं तुम्हें यह

अत्यन्त गुह्य शास्त्रीय और अनुभवजन्य ज्ञान

बताता हूं, इसके जाननेसे तुम्हारा अमङ्गल न होगा ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

सब विद्याओंमें यह श्रेष्ठ विद्या है और सब गुह्योंमें श्रेष्ठ गुह्य है। यह परम पवित्र है, इसका फल प्रत्यक्ष मिलता है, इससे धर्मकी वृद्धि होती है, सुखपूर्वक इसकी साधना हो सकती है और इसका कभी नाश नहीं होता।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परन्तप! इस धर्मपर जिनकी श्रद्धा नहीं है, वे मुझे नहीं पाते और इस मृत्युयुक्त संसारमें बार बार लौट आते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

मेरा स्वरूप अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट है और मैंने इस समय जगत्को प्रगट किया है, मुझमें सर्वभूत हैं, पर वे सब मिलकर भी मुझे व्याप्त नहीं कर सकते ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

इन सब भूतोंने भी मुझे सर्वथा व्याप नहीं रक्खा है। मेरा यह ईश्वरीय कर्म देखो। मेरी ही आत्मा सब भूतोंका पालन करती है, वही सब भूतोंका आधार है, पर उसने उनमें प्रवेश नहीं किया।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

याद रक्खो, जैसे सर्वत्र विचरण करने-वाली महान् वायु समस्त आकाशमें व्याप्त है, उसी प्रकार समस्त भूत मुझमें हैं।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

हे कौन्तेय! कल्पके अन्तमें सभी जीव मेरी प्रकृतिमें आ मिलते हैं और कल्पके प्रारम्भमें मैं उन्हें फिर उत्पन्न करता हूं ॥७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

मैं अपनी प्रकृतिकी प्रेरणा करता हूं और उसके गुणसे स्वभावतः बननेवाले इस चराचर जगत्को फिर फिर उत्पन्न करता हूं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९॥

तो भी हे धनंजय! वे कर्म मुझे बद्ध नहीं करते; क्योंकि मैं उनमें आसक्त नहीं होता, वरन् सदा उदासीन रहता हूं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कौन्तेय, समस्त संसारका स्वामी मैं हूं और मेरा आश्रय ग्रहण कर प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है, इसीलिये इसका फिर फिर उदय होता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

मूढ़जन मेरा सच्चा स्वरूप नहीं जानते। वे नहीं जानते कि यद्यपि मैंने मनुष्यरूप धारण किया है तो भी मैं समस्त चराचरका स्वामी हूँ, इसीसे मेरी अवहेला करते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

उनकी आशा व्यर्थ है, उनके कर्म व्यर्थ हैं, उनका ज्ञान व्यर्थ है और उनकी बुद्धि विक्षिप्त है। वे उस आसुरी स्वभावका आश्रय ग्रहण करते हैं, जिससे बुद्धि भ्रान्त हो जाती है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

परन्तु हे पार्थ ! जिनका मन शुद्ध है,वे देव-स्वभावका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे मुझे सब जीवोंका मूल और अविनाशी जानकर अनन्यभावसे मेरी पूजा करते हैं ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

वे सब समय मेरा भजन करते हैं और दृढ़ निश्चयके साथ भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, अपने मनको इधर-उधर भटकने नहीं देते ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्य प्रकारके लोग ज्ञानरूप यज्ञसे मेरी सेवा करते हैं। कोई मुझे और अपनेको एक समझकर,कोई दोनोंमें भेद मानकर और कोई

मुझे लीलावतारी समझकर मेरी ही उपासना करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

श्रौतयज्ञ मैं हूं, स्मार्तयज्ञ मैं हूं और पितृयज्ञ मैं हूं तथा औषध, मंत्र होमका साधन घृत, अग्नि और होम भी मैं ही हूं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगत्का पिता, माता, धारणकर्त्ता, पितामह, जाननेयोग्य पदार्थ ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं हूं।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

गति, पालनकर्त्ता, प्रभु, साक्षी, रहनेका स्थान, रक्षक, मित्र, उत्पन्न करनेवाला, संहार

करनेवाला, आधार, प्रलयस्थान और अवि- नाशी बीज मैं हूं ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९॥

मैं सूर्यरूपसे तपता हूं, मैं वर्षा बन्द करता हूं और मैं ही वर्षा करता हूं, तथा हे अर्जुन, मैं ही अमृत हूं और मृत्यु भी मैं हूं, उसी प्रकार सत और असत भी मैं हूं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

तीनों वेदोंका अध्ययन कर यज्ञ करनेवाले, यज्ञमें सोमपान करनेवाले और उससे पाप- मुक्त हुए याज्ञिक यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करते हैं और स्वर्ग-सुखके लिये प्रार्थना करते

हैं, वे इन्द्रलोकमें जाकर अनेक प्रकारके दिव्य सुख पाते हैं ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

उस विशाल स्वर्ग-सुखको भोगकर, पुण्य समाप्त होनेके बाद वे फिर मृत्युलोकमें आते हैं। जो लोग ये तीनों प्रकारके कर्म करते हैं, पर भोगके उद्देश्यसे कर्म करते हैं, वे स्वर्ग और पृथ्वीमें इसी प्रकार आया-जाया करते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो मनुष्य सर्वदा मेरा चिन्तन कर स्वस्थ चित्तसे मेरी ही उपासना करते हैं, उनके अभाव दूर करनेकी और उनके पास जो कुछ है, उस-की रक्षा करनेकी चिन्ता मैं करता हूं ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कौन्तेय! जो लोग श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी मेरी ही सेवा करते हैं, भेद केवल यह है कि उनका वह कर्म जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं होता।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

क्योंकि समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु मैं ही हूं। पर वे मुझे भलीभांति नहीं पहचानते, इसलिये वे फिर फिर जन्म ग्रहण करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्

देवताओंकी उपासना करनेवाले देवलोक जाते हैं, पितरोंकी उपासना करनेवाले पितृलोक जाते हैं, भूतोंकी भक्ति करनेवाले

भूतोंके पास जाते हैं और मेरी भक्ति करने-वाले मेरे पास आते हैं ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो शुद्धचित्त होकर एक पत्ता, एक फूल, एक फल अथवा केवल जल ही मुझे अर्पण करता है, उसका वह भक्तिका उपहार मैं बड़े प्रेमसे ग्रहण करता हूं ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौन्तेय ! तुम जो खाते हो, करते हो, आहुति देते हो, दान करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

ऐसा करनेसे शुभ और अशुभ फलरूप

कर्मोंके बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे और समस्त कर्म मुझे अर्पण करनेकी प्रवृत्ति होगी तथा मुक्त होकर मुझसे मिलोगे ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं जीवमात्रको समदृष्टिसे देखता हूं। मुझे न कोई अप्रिय है न प्रिय। पर जिनकी भक्ति मुझपर है, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं ॥२६॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करे तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि उसने उत्तम मार्ग ग्रहण किया है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिरस्थायी शान्ति पाता है। हे कौन्तेय ! निश्चयरूपसे जानो कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

हे पार्थ ! अत्यन्त नीच वंशमें उत्पन्न मनुष्य हो, स्त्री हो, वैश्य हो और शूद्र हो, जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, उनको उत्तम ही गति मिलती है ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

फिर उनके विषयमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यात्मा ब्राह्मण हैं, मेरे भक्त हैं अथवा राजर्षि हैं। पर यह देह नाश होनेवाली और दुःखदायक है, इसे प्राप्त कर मेरी आराधना करो

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, चित्तका समाधान कर उसे मुझमें मिलाओ और सर्वथा मुझमें ही आसक्ति रखो, तब मुझसे मिलोगे।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० राजविद्या-राजगुह्य-योगो नाम नवमोऽध्यायः।

अथ दशम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

हे महाबाहो ! पुनः मेरा वचन सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिये जिसमें तुम्हारा हित हो, इस इच्छासे मैं तुम्हें यह बता रहा हूं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरी उत्पत्ति न देवता जानते हैं न महर्षि, क्योंकि देवताओं और महर्षियोंका आदि-कारण मैं हूं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो यह जानता है कि मेरा जन्म कभी नहीं हुआ है, मैं अनादि और सर्वलोकोंका परमेश्वर हूँ, वह मोहसे दूर रहता है तथा मनुष्योंमें वह पापसे मुक्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

बुद्धि, ज्ञान, मोहहीनता, क्षमा, सत्य, दम-शम, सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, भय-अभय,

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अयश—ये भिन्न भिन्न प्रकारके भाव प्राणी मुझसे ही पाता है ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

सात महर्षि और सब मनु मेरे मनसे उत्पन्न हुए (उनमें मेरा प्रभाव था), जगत्के समस्त प्राणी उनसे उत्पन्न हुए ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

जो मेरी यह विभूति (ईश्वर-सूचक पदार्थ), मेरा योग भलीभांति जानता है, उसको अवश्य ही सन्देहरहित ज्ञान प्राप्त होता है॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

यह जानकर कि मैं सबका उत्पन्न करने-

वाला हूं—मुझसे सब उत्पन्न हुआ है,—ज्ञानी प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

वे मुझमें चित्त लगाकर, मुझको अपना-कर, एक दूसरेको मेरे सम्बन्धमें समझाते हुए, मेरा भजन करते हुए सर्वदा संतुष्ट रहते हैं और आनन्दसे समय बिताते हैं ॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

चित्तका समाधान कर वे प्रेमसे मेरा भजन करते हैं। मैं उनको ऐसी बुद्धि देता हूं, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

उनपर अनुग्रह करनेके लिये मैं उनकी बुद्धिमें

धास कर सुप्रकाशित ज्ञानदीपकी सहायतासे अज्ञानमूलक अन्धकारका नाश करता हूं ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

तुम परमब्रह्म हो, परमधाम और पवित्र हो; समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास तुमको शाश्वत, स्वयं प्रकाश पुरुष, आदि-देव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, और तुमने स्वयं भी मुझसे यही कहा है ॥१२॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥

केशव, तुम मुझे जो कुछ बता रहे हो, उसको मैं सर्वथा सत्य समझता हूं। हे भग-

वन्! तुम्हारा स्वरूप वस्तुतः न देव समझ सके हैं और न दानव ही ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम! तुम सब भूतोंके उत्पादक हो, सब भूतोंके सञ्चालक हो, प्रकाश और सृष्टिके पालक हो, तुम स्वयं ही अपनी शक्तिसे अपनेको जानते हो।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्याह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥

अपनी अद्भुत विभूतियां, जिनके द्वारा तुमने सब लोकोंको व्याप रखा है, मुझे भलीभांति समझानेकी कृपा करो ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।

हे योगिन्! किन विभूतियोंके द्वारा तुम्हारा

सदा चिन्तन करनेसे मुझे तुम्हारा ज्ञान होगा? हे भगवन्, किस वस्तुमें मुझे तुम्हारा चिन्तन करना चाहिये? ॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

हे जनार्दन! कृपया मुझे विस्तारके साथ बताओ, क्योंकि तुम्हारे अमृतके समान वचन सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती ॥१८॥

श्रीकृष्ण उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! ठीक है। मेरा विस्तार तो अनन्त है, इसलिये मैं तुम्हें अपनी मुख्य मुख्य दिव्य विभूतियां ही बताऊंगा ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश, सब भूतोंके भीतर रहनेवाली आत्मा मैं ही हूं तथा सब भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

मैं आदित्योंमें विष्णु, तेजस्वियोंमें प्रकाशमान सूर्य, मरुत देवताओंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें चन्द्र हूं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

मैं वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और प्राणियोंमें चैतन्य हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

मैं ही रुद्रोंमें शिव, यक्ष और राक्षसोंमें कुवेर, वसुओंमें अग्नि और पर्वतोंमें मेरु हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥

हे पार्थ, पुरोहितोंमें बृहस्पति, सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें सागर मैं ही हूं ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

मैं महर्षियोंमें भृगु और वाणीमें ॐ, यह एक अक्षर, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर पदार्थोंमें हिमालय हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥

मैं वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल), देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

घोड़ोंमें मैं क्षीरसागरसे निकला हुआ उच्चैःश्रवा हूं, गजेन्द्रोंमें ऐरावत हूं और मनुष्योंमें राजा हूं ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

मैं शास्त्रोंमें वज्र हूं, गौओंमें कामधेनु हूं। मैं प्रजोत्पादन करनेवाला कामदेव हूं और सर्पोंमें वासुकि हूं ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें मैं शेषनाग हूं, जलचरोंमें मैं वरुण हूं, पितरोंमें मैं अर्यमा हूं और शासकोंमें मैं यम हूं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद, गणकोंमें काल, मृगोंमें

सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ हूं ॥३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

मैं शुद्ध करनेवालोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें रामचन्द्र, मत्स्योंमें मकर और नदियोंमें गङ्गा हूं ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

हे अर्जुन ! मैं सृष्ट पदार्थोंका आदि, मध्य और अन्त हूं तथा वक्ताओंमें वाणी हूं ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयःकालो धाताऽहं विश्वतोमुखः॥३३॥

अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास, अनन्त काल तथा सर्वदर्शी विधाता भी मैं ही हूं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

हरण करनेवालोंमें सर्वहर मृत्यु मैं हूं ।

भविष्यत्में होनेवाली वस्तुओंका उद्गम मैं हूं। स्त्रियोंमें मैं कीर्त्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूं॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥

सामगानोंमें मैं बृहत्साम हूं, छन्दोंमें मैं गायत्री छन्द हूं, मासोंमें मैं मार्गशीर्ष हूं और ऋतुओंमें मैं वसन्त हूं॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥

छलियोंमें जुआ मैं हूं, तेजस्वियोंमें तेज मैं हूं, जय तथा उद्योग मैं हूं और सात्विकोंमें सत्त्व हूं॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥

यादवोंमें मैं वासुदेव हूं, पाण्डवोंमें मैं

धनञ्जय हूं, मुनियोंमें मैं व्यास हूं और कवियों-में मैं शुक्राचार्य्य हूं ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

दमन करनेवालोंमें दण्ड मैं हूं, जय चाहने-वालोंकी नीति मैं हूं, गुह्य पदार्थोंमें मौन मैं हूं और ज्ञानियोंका ज्ञान मैं हूं ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

और हे अर्जुन, भूतमात्रका जो कुछ बीज है, वह मैं हूं। मेरे अतिरिक्त चराचर भूत कुछ भी नहीं है ॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। यह जो मैंने विस्तार किया है, वह केवल

विभूतियोंका सूचक है–मार्ग दिखानेवाला है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

तुम इतना जान रखो कि जिन पदार्थोंमें ऐश्वर्य, शोभा अथवा प्रभाव है, वे सब मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुए हैं ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

हे अर्जुन! और अधिक कहना व्यर्थ है। तुम इतना ही जान लो कि एक अंशसे मैं इस समस्त जगत्में व्याप्त हूं ॥४२॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीता० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।

अथ एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

मुझपर अनुग्रह करनेके लिये तुमने मुझे अध्यात्म नामक जो परम गुह्य बताया, उससे मेरा समस्त मोह दूर हो गया ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

हे कमलनेत्र ! चराचरकी उत्पत्ति और नाशका कारण और तुम्हारा अक्षय माहात्म्य भी मैंने तुम्हारे ही मुखसे विस्तारपूर्वक सुना ।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे पुरुषोत्तम ! हे परमेश्वर ! तुमने अभी अपना जैसा वर्णन किया, उस प्रकारका तुम्हारा रूप देखनेकी मेरी बड़ी इच्छा है ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

हे योगेश्वर ! हे प्रभो ! यदि मुझे वह रूप

दिखाना तुम सम्भव समझते हो तो मुझे वह अपना अव्यय रूप दिखाओ।

श्रीकृष्ण उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

हे पार्थ, नाना प्रकारके, नाना वर्णोंके और नाना आकारोंके मेरे शत-शत सहस्र-सहस्र दिव्य रूप देखो ॥५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत! आदित्य देखो, वसु देखो, रुद्र देखो, अश्विनीकुमार देखो, मरुद्गण देखो, और पहले कभी न देखे थे, ऐसे आश्चर्य देखो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश! चराचरसहित यह जगत् देखो,

तथा और जो कुछ देखना चाहते हो, वह आज यहां मेरी देहमें देख लो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

पर इन नेत्रोंसे मुझे देख न सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूं, उनसे मेरा ईश्वरीय योग देखो॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥९॥

राजन्, महायोगेश्वर कृष्णने यह कहकर अर्जुनको अपना परम श्रेष्ठ ईश्वरीय रूप दिखाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥

उस विश्वरूपके अनेक मुख और अनेक नेत्र

थे, और उसमें अनेक देखनेयोग्य अद्भुत पदार्थ थे। उसपर अनेक सुप्रकाशित अलंकार थे और अनेकानेक दिव्य शस्त्र उसने ग्रहण किये थे।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

देहपर सुप्रकाशित फूल और वस्त्र थे। शरीरमें दिव्य सुवासित पदार्थ लगे हुए थे। वह रूप अत्यन्त आश्चर्यमय और सीमारहित था। उसके सब ओर मुख थे।

दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

आकाशमें यदि सहस्र सूर्यकी प्रभा एक साथ हो तो वह कुछ कुछ उस महात्माकी प्रभाके समान होगी॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥

उस समय अर्जुनने देवाधिदेवके शरीरमें समस्त जगत् एकत्र देखा और उसमें भी अनेक विभाग देखे।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

तब धनञ्जय आश्चर्यसे चकित हो गया, उसका शरीर रोमाञ्चित हुआ, उसने शिर झुकाकर और हाथ जोड़कर भगवान्से कहा —

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

तुम्हारी देहमें मैं सब देवताओंको देखता हूं, भिन्न भिन्न प्रकारके प्राणियोंके समुदाय देखता हूं, कमलासनपर बैठे हुए सब देव-

ताओंके ईश ब्रह्मदेवको देखता हूं,सब मुनियोंको देखता हूं और दिव्य सर्प भी देखता हूं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

हे विश्वेश्वर! तुम्हारे अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं। तुम्हारा रूप अनन्त है। तुम्हारा अन्त, मध्य और आदि दिखाई नहीं देता। समस्त विश्वमय तुम्हारा रूप दिखाई देता है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

तुमने किरीट, गदा और चक्र ग्रहण किया

है। तुम तेजकी राशि हो। तुम्हारी प्रभा सर्वत्र व्याप रही है। सूर्य और अग्निके समान प्रकाश तुम्हारे चारों ओर है, इसलिये तुम्हारी ओर मुझसे देखा भी नहीं जाता। तुम अगम्य हो।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

परब्रह्म तुम, जाननेकी वस्तु तुम, विश्वका महा आधार तुम, नित्य तुम, शाश्वत धर्मके रक्षक तुम, सनातन तुम और पुरुषोत्तम भी मुझे तुम्हीं मालूम होते हो।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

तुम्हारा न आदि है, न मध्य और न अन्त। तुम अनन्त शक्ति, अनन्त हस्त हो, चन्द्र-सूर्य्य तुम्हारे नेत्र हैं, तुम्हारे मुखसे आग निकल रही है, समस्त विश्वको तुम अपने तेजसे तपा रहे हो—इस प्रकारका तुम्हारा रूप मैं देख रहा हूं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन्! आकाश और पृथ्वीके बीचका अन्तर तथा समस्त दिशाएं अकेले ही तुमने व्याप रखी हैं। तुम्हारा ऐसा अद्भुत उग्र रूप देखकर समस्त त्रैलोक्य कष्ट पा रहा है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

यह देखो, देवताओंके समूह तुम्हारी शरण आ रहे हैं, उनमें कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़ तुम्हारी प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षियों और सिद्धोंका समूह "स्वस्ति" कहकर नाना प्रकारसे तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनी, मरुत, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध—इनके संघ विस्मित हो तुम्हारी ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहो ! अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक हस्त, अनेक जांघ, अनेक पैर, अनेक पेट और अनेक कराल दन्तयुक्त तुम्हारा यह विशाल रूप देखकर सब लोग अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं और मैं भी दुःखित हो रहा हूं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

आकाशतक पहुंचे हुए, प्रकाशमान अनेक वर्णोंके फैलाये हुए मुखके, जलनेवाले विशाल नेत्रयुक्त तुमको देखकर हे विष्णो ! मेरा जी घबरा रहा है। मुझसे धैर्य धारण नहीं किया जाता और चित्त शान्त नहीं होता।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

हे देवाधिदेव, हे जगन्निवास, प्रलयकालकी आगके समान जलनेवाले और भयंकर दाढ़ोंसे डरावने बने हुए तुम्हारे मुख देखकर मैं दिशा-तक पहचाननेमें असमर्थ हो गया हूं और मुझे सुख नहीं होता है, मुझपर अब दया करो।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रके ये सब पुत्र और राजाओंके वे

समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारी ओरके मुख्य मुख्य योद्धा डरावनी दाढ़ीसे युक्त तुम्हारे मुखोंमें बड़ी शीघ्रतासे प्रवेश कर रहे हैं। कितने ही तुम्हारे दांतोंके बीच फंस गये हैं और दिखाई दे रहा है कि उनके मस्तक चूर-चूर हो रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियोंके बड़े बड़े प्रवाह समुद्रकी ओर जाते हैं, उसी प्रकार मृत्युलोकके ये वीर तुम्हारे प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे पतंग मरनेके लिये प्रदीप्त अग्निमें बड़े वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये लोग भी नष्ट होनेके लिये बड़ी शीघ्रतासे तुम्हारे मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

हे विष्णो, जिस मुखसे अग्निकी ज्वालाएं निकल रही हैं, उसमें तुम सब लोगोंको निगल जाते हो और बार बार जीभ चाट रहे हो। तुम्हारी उग्र प्रभा समस्त जगत्‌में व्याप्त है और प्रखर तेजसे उसको जला रही है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे देववर, यह भयङ्कर रूपवाले तुम कौन हो? कृपया मुझे बताओ, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं, मुझपर प्रसन्न हो। आदिपुरुष तुमको जाननेकी मेरी इच्छा है। तुम्हारा उद्देश्य मेरी समझमें नहीं आता है।

श्रीकृष्ण उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

संसारका नाश करनेवाला मैं उग्र काल हूं। प्राणियोंका संहार करनेके लिये आया हूं। यदि तुमने युद्ध न किया तो भी इन सेनाओंके ये वीर जीवित न रह सकेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिये तुम उठो, शत्रुका संहार कर यश प्राप्त करो और उत्तम राज्य भोग करो। हे सव्यसाची अर्जुन! इनको तो मैंने पहले ही मार रखा है, तुम केवल निमित्तमात्रके लिये आगे हो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४ ॥

भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ तथा अन्यान्य योधाओंको मैंने पहले ही मारा है, इनको तुम मारो, खेद मत करो, युद्ध करो; शत्रुपर तुम्हारी विजय होगी।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

केशवके ये वाक्य सुनकर अर्जुन हाथ जोड़-कर खड़ा हो गया और थर थर कांपने लगा; और सिर नमाकर वारम्बार नमस्कार कर डरते डरते गद्गद् कंठसे बोला :--

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

हे हृषीकेश, तुम्हारे प्रभावका वर्णन करनेसे समस्त जगत् आनन्दित और प्रसन्न होता है,

वह उचित ही है। उसी प्रकार राक्षस भय-भीत होकर चारों ओर भागते हैं और सिद्ध तुमको नमस्कार करते हैं, यह भी योग्य है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास।
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवाधिदेव, हे जगन्निवास, तुम ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ हो। तुमको वे नमस्कार न करें, यह कैसे हो सकता है? व्यक्त तुम हो और अव्यक्त भी तुम हो तथा इन दोनोंसे परे अक्षर भी तुम ही हो।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

हे अनन्तरूप, तुम आदिदेव हो, पुराण-पुरुष हो, विश्वका लयस्थान तुम हो, ज्ञाता और जाननेयोग्य वस्तु तुम हो, परमधाम तुम हो, विश्वको उत्पन्न करनेवाले तुम हो ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, ब्रह्माके भी पिता तुम हो, तुमको हजार बार नमस्कार है, फिर फिर नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्वरूप! तुम्हारा सामर्थ्य अनन्त है,

तुम्हारा पराक्रम अनन्त है, तुम सब विश्वमें व्याप्त हो, इसीसे तुम्हारा नाम सर्व है। तुमको सामनेसे नमस्कार है, पीछेसे नमस्कार है और सब दिशाओंसे नमस्कार है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

तुमको अपना लंगोटिया यार समझकर और तुम्हारी महिमा न जाननेसे अथवा प्रेमसे मैंने जो तुम्हें बड़ी ढिठाईसे "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा" कहा था,

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्ष
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

उसी प्रकार हे अच्युत, यद्यपि तुम्हारा अन्त नहीं मालूम होता तो भी खेलते, सोते, बैठते और खाते समय एकान्तमें या औरोंके सामने, केवल विनोदके लिये जो मैंने तुम्हारा अपमान किया था, उसके लिये मुझे क्षमा करो, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

तुम्हारे प्रभावकी उपमा नहीं है। तुम इस चराचर जगत्के पिता हो, पूज्य हो और गुरुसे भी श्रेष्ठ गुरु हो। तुम्हारी बराबरी कर सके, ऐसा तीनों लोकोंमें कोई नहीं है, फिर तुमसे अधिक कौन हो सकता है?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इससे हे स्तुत्य ईश, मैं शरीर झुकाकर वन्दना कर प्रार्थना करता हूं कि मुझपर कृपा करो। हे देव! पिता पुत्रको, मित्र मित्रको और प्रियजन प्रियजनको क्षमा करता है, उसी प्रकार कृपया मुझे क्षमा करो।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

तुम्हारा यह रूप जो कभी न देखा था, वह देखकर आनन्द भी हुआ और भयसे मैं घबरा भी गया हूं। इसलिये हे भगवन्, अब मुझे वही अपना नित्यका रूप दिखाओ। हे देवाधिदेव, जगन्निवास, दया करो।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्त्ते, तुम किरीट पहनकर, हाथमें गदा और चक्र लेकर वैसे ही चतुर्भुज बनो, जैसे पहले थे। मैं तुम्हारा वही रूप देखना चाहता हूं।

श्रीकृष्ण उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर योगबलसे अपना तेजोमय, अनन्त आदिका परम विश्वरूप तुमको दिखाया। यह रूप तुम्हारे सिवा पहले और किसीने नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुवर, मेरा यह रूप इस नरलोकमें अकेले तुमने ही देखा—और कोई नहीं देख सकता। वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, विद्याध्ययन, दान, सकाम कर्म अथवा घोर तपस्यासे यदि कोई यह रूप देखनेका प्रयत्न करेगा तो वह कभी सफल नहीं होगा।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

तो भी मेरा यह घोर रूप देखकर तुम डरो मत, घबराओ मत। भय त्यागकर, सन्तुष्ट

चित्तसे मेरा वही रूप फिर अच्छी तरह देखो।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

वासुदेवने अर्जुनसे इस प्रकार कहकर अपना स्वरूप अर्जुनको दिखाया और उसे डरा हुआ देखकर सौम्यरूप धारण किये हुए उस महात्माने उसे धीरज दिलाया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमास्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

हे जनार्दन, तुम्हारा यह सौम्य मानवरूप देखकर सावधान हुआ हूं, मेरा मन फिर पहले जैसा स्थिर हुआ है।

श्रीकृष्ण उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥

तुमने मेरा जो रूप अभी देखा, वह सहसा दिखाई नहीं दे सकता, देवता भी सर्वदा यह रूप देखनेको उत्सुक रहते हैं ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

तुमको मेरा जैसा दर्शन हुआ है, वैसा वेदाध्ययनसे, तपसे, दानसे अथवा यज्ञसे भी किसी दूसरेको नहीं हो सकता ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे परन्तप, अर्जुन, केवल अनन्यभक्तिसे मुझे चाहे जो इस प्रकार जान सकता है, प्रत्यक्ष देख सकता है और मुझमें मिल जा सकता है ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

और हे पाण्डव, मुझपर विश्वास कर जो मनुष्य कर्म करता है, जो मुझे ही परम पुरुषार्थ समझता है, जो मेरी ही भक्ति करता है, और जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, वह मुझसे मिल जाता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु० विश्वरूप-दर्शन-योगो नामैकादशोऽध्यायः ।

अथ द्वादश अध्याय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

इस प्रकारके तुम्हारे सगुण रूपमें नित्य

स्थिर कर जो तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकारके भक्तोंमें श्रेष्ठ योगी कौन है ?

श्रीकृष्ण उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥२॥

जो मुझमें चित्त स्थिर रखकर बड़ी श्रद्धासे मेरा भजन करते हैं, उनको मैं सबसे श्रेष्ठ योगी समझता हूं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

पर जो इन्द्रियोंका संयम कर, सर्वत्र समदृष्टि रखकर प्राणीमात्रके हितमें लगे रहते हैं और अविनाशी ब्रह्मकी — जिसके बारेमें नहीं

कहा जा सकता कि यह अमुक है, जो अव्यक्त है, जो सर्वत्र व्याप्त है, जो चिन्तासे परे है, जो प्रपंचमें रहकर भी स्थिर है, जो अचल है और जो नित्य है, उस ब्रह्मकी—जो उपासना करते हैं, वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त हुआ है, उनको कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहवाले प्राणीके लिये अव्यक्त गतिका ज्ञान कर लेना बड़े ही कष्टका काम है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

पर जो अपने सब कर्म मुझे अर्पण कर, मुझपर भरोसा रखकर, अनन्यभक्तिसे मेरा ध्यान करते हैं और मेरी सेवा करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

उनका चित्त मुझसे बँधा रहता है। इसलिये हे पार्थ, मैं मृत्युयुक्त संसारसागरसे उनका शीघ्र ही उद्धार करता हूं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मुझमें ही मन रखो, मुझमें ही बुद्धि रखो, इससे देहान्तके बाद तुम निश्चय मुझमें ही वास करोगे, इसमें सन्देह नहीं।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

यदि मुझमें ही चित्त स्थिर रखना इस समय सम्भव न हो तो हे धनंजय, मुझे प्राप्त कर लेनेकी इच्छासे इसके लिये वारम्वार प्रयत्न करो—अभ्यास करो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमोभव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि अभ्यास करनेकी भी सामर्थ न हो तो मेरे उद्देश्यसे व्रतादि ही करो । यदि मेरे लिये तुम कर्म करोगे, तो भी तुम्हें मुक्ति मिलेगी ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्म फलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यह करनेमें भी यदि असमर्थ हो तो मनका संयम कर अनन्यभावसे मेरी शरण आओ और फलकी आशा छोड़कर कर्म करो ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

क्योंकि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी कर्मका फल-त्याग श्रेष्ठ है । त्यागसे तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो भूतमात्रका मित्र है, जो दयाशील है, जिसमें "मेरा और मैं"—भाव नहीं है, जिसके लिये सुख-दुःख, दोनों समान हैं, जो क्षमावान् हैं,

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो सर्वदा सन्तुष्ट, स्थिर-चित्त, संयमित मन, दृढ़निश्चयी है और जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दी है, इस प्रकारका मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे न लोगोंको भय है, न लोगोंसे जो डरता है, जो हर्ष अर्थात् दूसरोंका सुख देख-

कर खेद, भय और विषाद, इनसे मुक्त हो गया है, वह मुझे प्रिय है ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

जो कुछ मिले उसीमें सन्तुष्ट, पवित्र, आलस्यहीन, पक्षपातहीन, दुःखरहित और फलकी आशा छोड़कर कर्म करनेवाला भक्त मुझे प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

जो आनन्दसे फूलता नहीं, दुःखसे उकताता नहीं, इष्ट पदार्थके नाशसे शोक नहीं करता, किसीका लोभ नहीं करता, जिसने शुभ और अशुभ दोनोंका त्याग किया है, जो भक्तिमान है, वह मुझे प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

जो शत्रु और मित्रको समान समझता है, मान और अपमानको समान समझता है, शीत-उष्ण और सुख-दुःखको समान समझता है, और सब प्रकारका संग जिसने त्याग दिया है, वह मुझे प्रिय है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

जिसके लिये निन्दा और स्तुति समान हैं, जो बकवाद नहीं करता, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जो यह नहीं समझता कि यह घर मेरा है, जो भक्तिमान है, वह मुझे प्रिय है॥१६॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

पर जो मुझमें श्रद्धा रखकर मुझे मानकर इस अमृतके समान हितकारक धर्मका आचरण मेरे कहनेके अनुसार भक्तिपूर्वक करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता॰ भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।

अथ त्रयोदश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

हे कुंतीपुत्र ! इस शरीरको क्षेत्र (खेत) कहते हैं । इस शरीरके जाननेवालेको अर्थात् जो कहता है कि यह मेरा है, उसको क्षेत्रज्ञ (खेतिहर) कहते हैं । यह तत्वज्ञ पण्डितोंका मत है ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भारत ! प्रत्येक क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूं । क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ भिन्न है, इस मतसे मैं सहमत हूं ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

यह क्षेत्र किस प्रकारका है, उसमें कौन कौन विकार होते हैं, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, वह कैसा है; और क्षेत्रज्ञका क्या प्रभाव है? इत्यादि बातें मैं थोड़ेमें बताता हूं, सुनोः—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

बहुतसे ऋषियोंने बहुत प्रकारके छन्दोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे इसका वर्णन किया है और सन्देहरहित तथा युक्तिपूर्ण ब्रह्म-प्रतिपादक सूत्रों और पदोंद्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञानका वर्णन हुआ है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह

मैं क्षरसे परे हूं और अक्षरसे भी उत्तम हूं, इसलिये लोकमें और वेदोंमें भी मुझे पुरुषोत्तम कहा है ॥१८॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत, जो मोहसे मुक्त होकर मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होता है और सब प्रकारसे मेरी ही उपासना करता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

हे पापरहित अर्जुन, मैंने तुम्हें यह अत्यन्त गुह्य शास्त्र बताया है, जिसके जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान और कृतकृत्य होगा ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० पुरुषोत्तमयोगो नाम
पंचदशोऽध्यायः

अथ षोडश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

निर्भीकता, प्रसन्नता, ज्ञानप्राप्तिके लिये उद्योगशीलता, दानशीलता, इन्द्रिय-संयम, यज्ञ करना, स्वाध्याय, तप, सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, उदारता, शान्ति, चुगली न करना, जीवमात्रपर दया, निर्लोभ, नम्रता, शालीनता और गम्भीरता ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, निर्द्वेष, अति अभिमान न करना, हे भारत! ये गुण उसीको प्राप्त होते हैं, जिसने दैवी सम्पत्ति भोगनेके लिये ही जन्म ग्रहण किया है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

हे पार्थ! दम्भ, गर्व, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान, ये उसको मिलते हैं जो आसुरी सम्पत्ति भोगनेके लिये जनमा है।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥५॥

दैवी सम्पत्तिसे मोक्ष मिलता है और आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तुम्हारा जन्म दैवी सम्पत्ति भोगनेके लिये हुआ है, तुम शोक मत करो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोकमें प्राणियोंकी उत्पत्ति दो प्रकारकी है, दैवी और आसुरी। इनमें दैवी उत्पत्तिका वर्णन विस्तारके साथ किया जा चुका है, अब हे पार्थ, आसुरी उत्पत्ति बताता हूं, सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥७॥

असुर स्वभावके लोग नहीं जानते कि किसमें प्रवृत्ति होनी चाहिये और किससे निवृत्ति। वे न पवित्रता जानते हैं, न आचार जानते हैं और न उनमें सत्य ही रहता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥८॥

वे कहते हैं कि जगत्का कोई ईश्वर नहीं है, वेदादि प्रमाण झूठे हैं, धर्म और अधर्म कोई चीज नहीं है। परस्परके विरुद्ध गुणोंसे इस-

इन्द्रियां और इन्द्रियोंके पांच विषय तथा इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, संघात, चेतना और धृति, इनका समूह—संक्षेपमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ये ही विकार हैं।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

अभिमानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, सहनशीलता, सरलता, पवित्रता, स्थिरता और मनका संयम ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, "मैं पन" का अभाव और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग तथा दुःख—इनको दोषयुक्त समझना ।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, गृह इत्यादिमें अत्यन्त आसक्त न होना, उसके सुख-दुःखपर अति विचार न करना, इष्ट या अनिष्ट चाहे जैसी घटना हो जाय, पर चित्तको शान्त रखना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझमें अनन्यभावयुक्त एकनिष्ठ भक्ति, जहां चित्त प्रसन्न (शान्त) रहे वहां रहनेकी इच्छा, साधारण लोगोंमें रहनेसे विराग,

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

सदा स्मरण रखना कि मैं परमात्माका ही अंश हूं, ज्ञानप्राप्तिके उद्देश्य मोक्षको सबसे श्रेष्ठ मानना—इसे ही ज्ञान कहते हैं—इससे जो भिन्न है, वह अज्ञान है ॥११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

अब मैं बताता हूं कि, 'ज्ञेय'(अर्थात् जानने-योग्य) किसे कहते हैं। जिसके जाननेसे मोक्ष मिलता है, जिसका आदि नहीं, जो अत्यन्त बड़ा है, जिसके बारेमें कोई भले ही कहे कि वह नहीं है, पर जिसका होना न होना कभी संभव ही नहीं है, (वही ज्ञेय है)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जिसके सर्वत्र हाथ, सर्वत्र पैर, सर्वत्र नेत्र, सर्वत्र मस्तक, सर्वत्र मुख और सर्वत्र कान हैं; और त्रैलोक्यमें जो सबमें व्याप रहा है, (वही ज्ञेय है)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

जिसमें सब इन्द्रियोंके गुण होनेका भास होता है, पर जिसके कोई इन्द्रिय नहीं है,

जिसको किसीसे आसक्ति नहीं है, पर जो सबका आधार है, जो स्वयं निर्गुण होनेपर भी गुणोंका आश्रय है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

जो सब प्राणियोंके बाहर भीतर है तो भी चर और अचर है। जो अत्यन्त छोटा होनेके कारण इन्द्रियगोचर नहीं होता। जो दूर भी है और निकट भी है॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

जिसके विभाग नहीं होते, पर जो भिन्न भिन्न भूतोंमें विभक्तके समान रहता है, सब भूतोंका पालन करनेवाला, उनको नष्ट करनेवाला और जो फिर उनके रूपमें होनेवाला है, (वही ज्ञेय है।)॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

चन्द्रसूर्यादि ज्योतियोंको वही प्रकाश देता है, वह अन्धकारसे दूर रहनेवाला कहाता है, जाननेका साधन वही है, जाननेका पदार्थ वही है, ज्ञानरूप साधनसे प्राप्त भी वही होता है और सबके हृदयोंमें वही वास करता है ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेपमें समझाया । इसके जाननेसे मेरा भक्त मेरे पद-के योग्य होता है ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

समस्त जड़-समुदायको प्रकृति कहते हैं और चैतन्यको पुरुष कहते हैं, ये दोनों अनादि

पदार्थ हैं। विकार (देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ) और उनके गुण (सत्व, रज, तम और इनके सुख-दुःखादि परिणाम), ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं ॥१९॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कहा है कि कार्य अर्थात् शरीर और कारण अर्थात् सुख-दुःखादिके साधनरूप इन्द्रियां, इन दोनोंको प्रकृति उत्पन्न करती है। "पुरुष" के सम्बन्धमें कहा है कि वह सुख-दुःखादिका भोक्ता अर्थात् अनुभव करनेवाला है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृतिमें पुरुष रहता है और वह प्रकृतिके गुणोंका उपभोग करता है; इसलिये जिस जिस गुणसे उसका सम्बन्ध होता है, उसके

अनुसार वह (पुरुष) उच्च-नीच योनिमें जन्म लेता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

इस देहमें भी उस (पुरुष) को उपद्रष्टा (निकटसे देखनेवाला), अनुमन्ता (सम्मति देनेवाला), पालन करनेवाला, उपभोग करनेवाला, महेश्वर, परमात्मा और परम पुरुष कहते हैं॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

पुरुषका और गुणयुक्त प्रकृतिका यह भेद जो जानता है, उसका रहन-सहन चाहे जैसा हो, उसका पुनर्जन्म नहीं होता॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

कोई ध्यानसे अपनेमें ही आत्माको देखता है, कोई सांख्ययोगसे देखता है और कोई कर्मयोगसे ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

पर जिन्हें इस प्रकारका ज्ञान नहीं है, वे दूसरोंसे सुनकर ध्यान करते हैं और इस प्रकार सुनकर ध्यान करनेवाले भी मृत्युके पार चले जाते हैं ॥२५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन! स्थावर अथवा जंगम सब प्रकारके प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

परमेश्वर सब भूतोंमें समानरूपसे है, भूतोंके नष्ट होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। यह जो जानता है, वही ठीक जानता है ॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

ईश्वर सर्वत्र समभावसे रहता है, यह जानकर वह अपने हाथसे अपना नाश नहीं कर लेता; और इसलिये उसको उत्तम गति मिलती है ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥

प्रकृतिकी सामर्थसे ही सब कर्म हो रहे हैं, यह जो जानता है और जो अपनेको करने वाला नहीं समझता, वही ठीक जानता ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥

जब वह भिन्न भिन्न भूतोंको एक ही ईश्वरमें देखने लगता है, तब वह पूर्ण ब्रह्म प्राप्त करता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

परमात्मा अनादि है और निर्गुण अर्थात् गुणसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये इसको विकार नहीं होता ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे आकाश सब जगह व्याप्त रहनेपर भी किसीसे मिलता नहीं, उसी प्रकार आत्मा देहमें सर्वत्र व्याप्त रहनेपर भी निस्संग रहती है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

हे भारत! जैसे एक सूर्य समस्त जगत्को

प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

जो लोग ज्ञान-दृष्टिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह भेद समझ जाते हैं और भूतोंकी प्रकृतिके अवलोकनसे मोक्षका उपाय जान लेते हैं, उनको परमपद मिलता है ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

अथ चतुर्दश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

फिर मैं तुम्हें सब ज्ञानोंसे श्रेष्ठ ज्ञान बताता हूं। इसके जाननेसे ही सब मुनियोंने देह-बन्धनसे छूटकर परम सिद्धि प्राप्त की है ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

इस ज्ञानकी सहायतासे जिन्होंने मुझसे सायुज्य प्राप्त कर लिया है, उनका जन्म सृष्टिके प्रारंभमें भी नहीं होता और प्रलयके समय भी उनको कष्ट नहीं होता ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे भारत! महत् ब्रह्म मेरा गर्भ रखनेका स्थान अर्थात् मेरी प्रकृति है। उसमें मैं गर्भ रखता हूं और उससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौन्तेय! सर्व गर्भोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबका उत्पत्ति-स्थान महत् ब्रह्म है। और उसमें बीज रखनेवाला पिता मैं हूं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्व, रज और तम, ये गुण या रस्सियां हैं। हे महाबाहो! यद्यपि देही सब विकारोंसे मुक्त है तो भी देहके साथ रहनेसे ये रस्सियां उस देही को भी बाँध डालती हैं॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञासंगेन चानघ॥६॥

इनमें सत्व निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निरुपद्रव है। वह देहीको सुख और ज्ञानके साथ बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेनदेहिनम्॥७॥

रज रञ्जनरूप है। इससे लोभ होता है और प्राप्त पदार्थोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है। हे कौन्तेय! यह देहीको कर्मके साथ बाँधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत! समस्त ज्ञानपर जो आवरण है, वही तम है। देहीमात्रको यह मोहमें डालता है। यह भ्रम, आलस्य और निद्रासे देहीको बाँधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत, सत्व सुख उत्पन्न करता है, रज कर्म उत्पन्न करता है, पर यदि तमकी वृद्धि हो तो वह समस्त ज्ञानको ढककर प्रमाद अर्थात् भ्रम उत्पन्न करता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत, सत्वगुण रज और तमको दबाकर बढ़ना चाहता है, इसी प्रकार रज सत्त्व और तमको और तम सत्व और रजको दबाकर बढ़ना चाहता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इस देहमें इन्द्रियोंके द्वारा जब ज्ञानका प्रकाश उत्पन्न होता है, तब समझना चाहिये कि सत्वगुणकी विशेष वृद्धि हुई है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ, रजोगुणकी विशेष वृद्धि होनेसे लोभ-कर्ममें प्रवृत्ति, आरम्भशूरता, अशान्ति और इच्छा उत्पन्न होती है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन! तमोगुणकी प्रबलता होनेसे अविवेक, उद्योगसे घृणा, भ्रम और मोह उत्पन्न होता है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सत्वकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मरे, तो वह ज्ञानियोंके प्रकाशमय उत्तम लोकमें जाता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५॥

रजोगुणकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मरे तो उसका जन्म उन लोगोंमें होता है जो कर्ममें आसक्त हैं। तमोगुणकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मरे, तो पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उसका जन्म होता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

कहते हैं कि सात्विक पुण्य कर्मका फल भी सात्विक और कलङ्करहित होता है, पर रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्वसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजसे लोभ तथा तमसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है।

ऊर्ध्वङ्गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छाति तामसाः॥

सात्विक मनुष्यको उत्तम, राजसको मध्यम और कनिष्ठ तामसको नीच गति प्राप्त होती है॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

जब द्रष्टा विवेकसे जान लेता है कि जितने कार्य होते हैं, उनके करनेवाले गुण ही हैं और अति परे मुझ परमात्माके तत्त्वसे जानता है, तब वह मेरे स्वरूपसे मिल जाता है ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

जो देही देहमें उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंके पार चला जाता है, वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोगसे मुक्त होकर मोक्षपद पाता है ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥

प्रभो! कैसे जाना जाता है कि अमुक

मनुष्य तीनों गुणोंके पार चला गया है ? उसका बर्ताव कैसा होता है ? किन उपायोंसे यह त्रिगुणातीत होता है ॥२१॥

श्रीकृष्ण उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥

हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके प्राप्त होनेसे जो दुःखित नहीं होता, तथा इनके चले जानेसे फिर पानेकी इच्छा नहीं करता ।२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥

उदासीन मनुष्यके समान जो सुख दुःखको समान मानता है और गुणोंके कार्य होते ही रहते हैं, यह जानकर जो निश्चिन्त रहता है और कभी विचलित नहीं होता ।२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

जिसको सुख दुःख, मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना, प्रिय-अप्रिय, निन्दा और स्तुति समान हैं, जो धीर और शान्त रहता है ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

जिसको मान-अपमान तथा मित्र और शत्रु समान हैं, जो बखेड़ोंमें नहीं पड़ता उसे, गुणातीत कहते हैं ।२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ होकर भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह निश्चय ही इन गुणोंको भलीभांति जीतता है और ब्रह्मभावके योग्य होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

क्योंकि ब्रह्मका, अविकृत मोक्षका, शाश्वत-

धर्मका और अखण्ड सुखका भण्डार मैं हूं ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रय विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

अथ पञ्चदश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

संसार अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष है, इसकी पुराणपुरुषरूप जड़ ऊपर है, चराचररूप इसकी शाखाएँ नीचे लटक रही हैं, वेद इसके पत्ते हैं—यह जो जानता है, वही वेदोंका जाननेवाला है ॥१॥

"अ" अर्थात् नहीं, "श्व:" अर्थात् कल, "थ" रहना। तात्पर्य्य यह कि जो कल रहेगा या नहीं, यह भी अनिश्चित है। अश्वत्थका अर्थ यही है। इसकी उपमा संसारसे दी गयी है, क्योंकि संसार वस्तुतः अश्वत्थ अर्थात् अस्थायी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इसकी शाखाएं ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। सत्व, रज और तम गुण इसकी रसवाहिनी नसें हैं, जिनसे इसका पोषण होता है। शब्द, रूप आदि विषय इसकी डालियां हैं। इसमें नीचे भी भोगकी इच्छारूप जड़ें निकली हैं और इन जड़ोंके अनुसार इस लोकमें कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

पर अश्वत्थका यह रूप, इसका आदि, अन्त और इसकी गठन संसारी मनुष्यके ध्यानमें नहीं आती। तथापि जिसकी जड़ें गहरी गयी हैं, ऐसे इस अश्वत्थको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रसे काटकर वह स्थान ढूंढ़ निकालना चाहिये, जहाँ जानेसे फिर लौटना नहीं पड़ता और साथ ही यह विचार करना चाहिये कि जिससे संसारके प्रति यह पुरानी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है, मैं उसीकी शरणमें हूं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिनका अहंकार और मोह दूर हो गया है, जो संसारसे अनुरागहीन हो गये हैं, जो सर्वदा स्मरण रखते हैं, कि हम परमात्माके अंश हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो गयी हैं, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गये हैं, ऐसे ज्ञानी यह शाश्वत-पद पाते हैं ।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

जहां प्रकाशके लिये सूर्य, चन्द्र वा अग्निकी आवश्यकता नहीं है और जहां गये हुए लोग वापस नहीं आते, वह मेरा परमपद है ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीवका रूप धारण करता है, प्रकृतिमें—अनित्य पदार्थों में—लगी हुई पांचों इन्द्रियों और छठे मनको वह उससे छुड़ाता है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

शरीरका वह स्वामी शरीर धारण करनेके बाद जब उसका त्याग करता है, तब इन्द्रियों-को और मनको अपने साथ ले जाता है, जैसे वायु पुष्पादिकी गन्ध ले जाती है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

कान, आंख, चर्म, जीभ और नाकमें तथा मनमें रहकर वह शब्दादि विषयोंका भोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

एक देहसे दूसरी देहमें जाते समय, वा एक ही देहमें रहते समय, भोग करते समय अथवा सुख-दुःखादि गुणोंसे युक्त रहते समय उस जीवको मूर्ख नहीं देखते; पर जिनके ज्ञान-रूप नेत्र हैं, वे देखते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

प्रयत्न करनेसे योगी देखते हैं कि वह शरीरमें है, पर अज्ञानी और मूर्ख प्रयत्नसे भी नहीं देखते ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

जानो कि समस्त जगत्को प्रकाश देने-वाला जो तेज सूर्यमें, चन्द्रमें और अग्निमें है, वह मेरा ही है ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

मैं पृथ्वीमें सामर्थ्यरूपसे प्रवेश कर समस्त जीवोंको धारण करता हूं और रसमय चन्द्र होकर सब ओषधियोंका पोषण करता हूं॥१३॥

अहं वैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

मैं जठराग्नि होकर प्राणियोंकी देहमें रहता हूं और प्राण तथा अपानवायुसे मिलकर चतुर्विध (चबाकर खानेयोग्य, चूसनेयोग्य, चाटनेयोग्य और पीनेयोग्य) अन्नको पचाता हूं ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं प्रत्येकके हृदयमें प्रवेश करता हूं। स्मरण, ज्ञान और तर्क मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। सब वेदोंकी सहायतासे मैं ही जाना

जाता हूं, वेदान्तका प्रवर्तक मैं हूं और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

इस लोकमें नाशवन्त और अविनाशी दो पुरुष हैं। समस्त चराचरमें जो जड़ है, वह क्षर अथवा नाशवन्त है और उसमें पर्वतशिखरके समान जो स्थिर है, वह अक्षर अर्थात् अविनाशी है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

इनसे भिन्न जो उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहाता है, वही अविनाशी सर्वश्रेष्ठ है, वह त्रैलोक्यमें व्याप्त रहकर सबका धारण और पोषण करता है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

की उत्पत्ति होती है। स्त्री और पुरुषकी परस्परमें प्रवृत्ति इसका कारण है, इसके सिवा और क्या है?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥

जो लोग जगत्का अहित करनेके लिये जन्म लेते हैं, वे ही यह मत मानते हैं। उनका चित्त नष्ट, उनकी बुद्धि अल्प और उनके कर्म झूठे होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

जिससे कभी तृप्ति नहीं होती, ऐसे कामका आश्रय ग्रहण कर, दम्भ, अभिमान और मदसे युक्त होकर तथा मूर्खताके कारण झूठी समझसे वे बुरे काम करने लगते हैं॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥

जबतक जीते रहते हैं, तबतक वे घोर चिन्तामें पड़े रहते हैं। उनका यह दृढ़ मत है कि सबसे उत्तम कामोपभोग है, इसके सिवा संसारमें कुछ नहीं है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

वे शतशः आशापाशोंमें बँधकर, काम-क्रोधमें प्रवृत्त होकर कामभोगके लिए अन्यायसे धन-संग्रह करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

"आज मैंने यह धन कमाया, यह मनोरथ मैं साध्य करूंगा, मेरे पास इतना धन है इतना और मुझे मिलेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

यह शत्रु मैंने मारा और दूसरे मारूंगा, मैं स्वामी हूं, सुख भोगनेवाला मैं हूं, मैं कृतकार्य हो गया, मैं बलवान हूं, मैं सुखी हूं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्तिसदृशोमया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

मैं बड़ा धनी हूं, रईसके यहां मेरा जन्म हुआ है, मेरे समान और कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा, मैं आनन्द मनाऊंगा" अज्ञानसे अन्धे होकर वे इस प्रकार बर्राया करते हैं॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

अनेक मनोरथोंसे उनके चित्त विक्षिप्त हो जाते हैं, मोहजालसे वे घिर जाते हैं, इसलिये वे घृणित नरकमें जाते हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

वे अपनी प्रशंसा आप करते हैं, बेढब अखराते हैं, धन और बड़प्पनके मदसे मत्त हो जाते हैं; ऐसे लोग यज्ञ अवश्य करते हैं, पर लोगोंको दिखानेके लिये — लोगोंके सामने शेखी बघारनेके लिये। इसलिये वे कर्म शास्त्रविरुद्ध होते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

"मैं"-पन, बल, गर्व काम और क्रोधकी सहायतासे वे द्रोही अपने और दूसरोंके शरीरमें रहनेवाले "मैं" की निन्दा किया करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

ऐसे द्रोही, क्रूर और अधम लोगोंको मैं जन्म-मरणके चक्करमें डालकर अशुभ आसुरी योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

हे कौन्तेय, जन्म जन्म आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले वे मूर्ख यदि मुझे प्राप्त न कर लें तो अत्यन्त अधम गतिको प्राप्त होते हैं ॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

नरकके ये तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ । इनसे अपना नाश होता है, इसलिये इन तीनोंका त्याग करो ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

हे कौन्तेय, नरकके इन तीनों द्वारोंसे जो बचा रहता है, वह अपना कल्याण करता है और उससे अन्तमें उत्तम गति पाता है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

जो वेदादि शास्त्रोंके विरुद्ध अपनी इच्छाके अनुसार चलता है, उसको सिद्धि नहीं मिलती, सुख नहीं मिलता और उत्तम गति नहीं मिलती।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

इसलिये कौनसा काम करनेयोग्य है और कौनसा नहीं करनेयोग्य है, इसके निर्णयमें शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये (शास्त्रसे यह जानकर कि यह तुम्हारा कर्तव्य है, तुम्हें वह करना चाहिए)।

इति श्रीमद्भगवद्गीता॰ दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।

अथ सप्तदश अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्तेश्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

हे कृष्ण, जो लोग शास्त्रकी विधिमें तो भूल करते हैं, पर श्रद्धाके साथ;भजन करते हैं, उनकी वह श्रद्धा सात्विकी है कि राजसी है कि तामसी है ? ॥१॥

श्रीकृष्ण उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

सुनो,अपने अपने स्वभावके अनुसार मनुष्यकी श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

हे भारत, प्रत्येक मनुष्यमें जितना सत्यांश रहता है, उसकी श्रद्धा उसके अनुरूप होती है। प्राणी श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है वह प्राणी भी वैसा ही होता है ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

सात्विक मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसोंकी पूजा करते हैं और तामस जन भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं ॥४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

दम्भ और अहङ्कारके वशमें होकर

और दुराग्रहके बलसे जो लोग शास्त्र-विरुद्ध घोर तप करते हैं। और शरीरस्थ पञ्चभूतोंको तथा उनके भीतर रहनेवाले मुझको भी कष्ट देते हैं, जानो कि उनका निश्चय आसुरी है ॥ ५ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

प्रत्येकका प्रिय आहार भी तीन प्रकारका होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान, ये भी तीन तीन प्रकारके होते हैं। उनके भेद सुनो।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रेम बढ़ानेवाले रसयुक्त स्निग्ध पोषक और

आनन्ददायक आहार सात्त्विकोंको प्रिय है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीते, रूखे और तीव्र पदार्थ राजसोंको प्रिय हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

बिगड़े हुए या अधपके, रसहीन, जिनमें दुर्गन्ध आने लगी हो, बासी, जूठे और अपवित्र अन्न तामसोंको प्रिय होते हैं ।।१०॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

बिना फलकी इच्छा किये, मनका समाधान कर और अपना अनिवाय कर्त्तव्य समझकर जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

पर हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ फलकी आशासे और दम्भके लिये अर्थात् नामके लिये किया जाता है, वह राजस है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

अशास्त्र रीतिसे किया हुआ, मंत्ररहित, अन्नदानरहित और श्रद्धारहित जो यज्ञ है, वह तामस कहाता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, द्विज, गुरु और विद्वानोंकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—इसे कायिक अर्थात् शारीरिक तप कहते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

किसीका जी न दुखानेवाला, सत्यप्रिय और

हितकारक भाषण और वेदाध्ययन, इसको वाचिक तप कहते हैं ॥१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

चित्तकी प्रसन्नता, सौम्यता, मननशीलता, विषयोंसे विरक्तता और भावोंकी शुद्धता—इसे मानसिक तप कहते हैं ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैःसात्त्विकं परिचक्षते ॥

सात्विक तप तीन प्रकारके हैं—बिना फलकी आशासे किया हुआ तप, स्थिरचित्त होकर किया हुआ तप और उत्तम श्रद्धासे किया हुआ तप ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

मेरी प्रशंसा हो, मेरा सम्मान हो, लोग मेरी

पूजा करें, इस अहङ्कारसे किये हुए चञ्चल और अस्थिर तपको राजस तप कहा है।

मूढग्राहेणात्मनोयत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥

मूर्खताके कारण हठ कर, अपने शरीरको कष्ट देकर अथवा दूसरेके सर्वनाशके लिये जो तप किया जाता है, वह तामस तप कहाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

मुझे उपकारका बदला नहीं मिलेगा, उपयुक्त स्थानमें और उचित समयपर दान देना ही मेरा कर्त्तव्य है—यह समझकर योग्य पात्रको जो दान दिया जाता है, वह सात्विक दान कहाता है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

उपकारके बदले उपकार पानेकी इच्छासे अथवा फलकी आशासे, अथवा दुःखित चित्तसे जो दान दिया जाता है, उसे राजस दान कहते हैं ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अयोग्य स्थानमें, अयोग्य समयमें, अयोग्य पात्रको अपमान और तिरस्कार करके जो दान दिया जाता है, उसे तामस दान कहते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

"ॐ तत्सत्" ये तीन चिह्न ब्रह्मके नामके हैं, प्राचीन कालमें इन्हीं तीन नामोंसे ब्राह्मणों-की, वेदोंकी और यज्ञोंकी उत्पत्ति हुई थी। अथवा प्राचीन मत यह है कि इनसे वेदा-धिकार, वेदपठन और यज्ञ करनेसे ये काय दोषरहित होते हैं ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

इसलिये विधानके अनुसार वेदविद् पुरुष सर्वदा ॐ उच्चारण करके यज्ञ, दान और तप करते हैं ॥२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥

मोक्ष चाहनेवाले पुरुष फलकी आशा न कर 'तत्' उच्चारणपूर्वक यज्ञ, दान और तप-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी क्रियाएं करते हैं॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

अस्तित्व और साधुत्व या उत्तमत्व दिखानेके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, और हे पार्थ, प्रशस्त अर्थात् उत्तम कर्मके अथमें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७॥

यज्ञ-तप और दानका अस्तित्व भी "सत्" कहाता है। और इनके लिये किये हुए कर्म को भी सत्कर्म कहते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे पार्थ, श्रद्धाके बिना यज्ञ, तप, दान अथवा अन्य जो कर्म किया जाता है, उसे "असत्" कहते हैं। ऐसा कर्म न यहां किसी कामका है, न परलोकमें किसी कामका है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु० श्रद्धात्रय-
विभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

———

अथ अष्टादश अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे केशिदैत्यान्तक, मैं 'संन्यास' शब्दका और 'त्याग' शब्दका भी प्रकृत अर्थ जानना चाहता हूं।

श्रीकृष्ण उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥

कितने ही पण्डित काम्यकर्मके त्यागको संन्यास कहते हैं, अर्थात् किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये कर्म न करना ही अनेक पण्डितों-

के मतसे संन्यास है और कई पण्डितोंका मत

है कि फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करते रहनेपर भी वह संन्यास कहाता है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कई पण्डितोंका मत है कि कर्ममें दोष होता ही है, इसलिये कर्ममात्रके त्यागको संन्यास कहना चाहिये। अन्य पण्डित कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप, ये कर्म होनेपर भी त्यागनेयोग्य नहीं हैं। इसलिये इनका त्याग अनावश्यक है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागं भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥

हे भरतसत्तम! अब त्यागके सम्बन्धमें मेरा मत सुनो। हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग तीन प्रकारका होता है ॥४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तपका त्याग न करना चाहिये; क्योंकि इनसे बुद्धिमानोंका चित्त शुद्ध होता है ॥५॥

(अर्थात् चित्त-शुद्धिके लिये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म आवश्यक है ।)

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

हे पार्थ ! पर मेरा यह दृढ़ मत है,और यही मत उत्तम भी है कि ये कर्म भी उनमें बिना आसक्त हुए तथा फलकी आशा किये बिना करने चाहिये ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

मनुष्यको अपने कर्मका भी त्याग न करना चाहिये । यदि भूलसे भी कर्त्तव्यकर्मका त्याग करोगे तो वह त्याग तामस होगा ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

कर्मको केवल दुःख देनेवाला समझकर भयसे उसका जो त्याग किया जाता है, वह राजस त्याग कहाता है। इससे त्यागका फल नहीं मिलता ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥

हे अर्जुन! जो यह समझकर कर्म करता है कि कर्त्तव्यका करना आवश्यक है, पर उस कर्ममें स्वयं आसक्त नहीं होता, उसके त्यागको सात्विक त्याग कहते हैं ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

जो मनुष्य कर्त्तव्यका वह भाग त्याग नहीं देता जो उसे अच्छा नहीं लगता, और कर्त्तव्य-

के उस भागमें आसक्त नहीं होता जो उसे अच्छा लगता है; जो सत्व गुणमें स्थित है, उसका सन्देह नष्ट हो गया है और वही प्रकृत संन्यासी है ॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

देहधारी यदि चाहे कि मैं समस्त कर्मोंका त्याग करूं तो यह कभी हो ही नहीं सकेगा। कर्मका फल पानेकी इच्छाका जो त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी कहाता है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

कर्मके फल तीन प्रकारके हैं—अनिष्ट, इष्ट और मिश्र। सकामियोंको यह फल मृत्युके बाद मिलते हैं, पर संन्यासियोंको किसी कालमें भी नहीं मिलते ॥१२॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

हे महाबाहो, अर्जुन, सांख्यशास्त्रमें सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिके लिये आवश्यक जो पांच कारण सांख्यसिद्धान्तमें बताये हैं,वे सुनो ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

वे पांच कारण ये हैं —अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (जीव), भिन्न भिन्न प्रकारके कारण (इन्द्रियां), अनेक प्रकारकी चेष्टायें श्वासोच्छ्वास और दैव,॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य जो कार्य करता है, वह शरीरसे किया गया हो या वचनसे,उचित हो या अनुचित,उसके कारण ये ही पांच हैं, अर्थात् शरीर,

जीव, इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास और भाग्य। इन पांचोंके कोई कार्य नहीं हो सकते ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

जिस अवस्थामें बुद्धि अपरिपक्व होनेके कारण जो अपनेको कार्यका करनेवाला समझता है, वह मूर्ख कुछ नहीं जानता ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अहंकारके बिना और कर्ममें आसक्त न होकर यदि कोई इन सब लोगोंको मार डाले तो भी उसको हत्याका दोष नहीं लगेगा और वह बद्ध भी न होगा ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कार्य करनेकी प्रवृत्तिके लिये तीन बातोंकी

आवश्यकता है—(१) ज्ञान, (२) ज्ञानका विषय अर्थात् ज्ञेय और (३) ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला। कार्यके भाग भी तीन हैं (१) साधन, (२) कर्म और (३) करनेवाला।

टिप्पणी—मनुष्य जो इष्ट पदार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसे 'ज्ञेय' कहते हैं, "ज्ञेय अमुक उपायसे साध्य होगा" मनका यह निश्चय "ज्ञान" कहाता है, और जिसके मनमें यह 'ज्ञान' उत्पन्न होता है, वह परिज्ञाता कहाता है। कर्मकी प्रवृत्तिके लिये ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, इन तीन कारणोंकी आवश्यकता है। इन कारणोंके उपस्थित हो जानेपर कर्म करनेके लिये भी तीन प्रकारके आश्रयोंकी आवश्यकता है (१) करनेवाला अर्थात् कर्ता (२) कर्म—कर्त्ताकी क्रिया करनेकी इच्छाका भी पारिभाषिक शब्द 'कर्म' है और (३) कर्म करनेके इन्द्रियादि साधन। सारांश यह कि

ऊपर कहे हुए तीन प्रकारके कारणों और तीन प्रकारके आश्रयोंके बिना कार्य नहीं होता।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥

ज्ञान, कर्म और कर्त्ताके भिन्न भिन्न गुणोंके अनुसार इनमें प्रत्येकके जो तीन तीन भेद बताये गये हैं, वे भी सुनो॥१६॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

जिस ज्ञानसे यह मालूम होता है कि सब भूतोंमें जो भिन्न भिन्न भाव हैं, उनमें एकमात्र अव्यय और अविभक्त पूर्णतया भरा हुआ है, उसे सात्विक ज्ञान कहते हैं॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

जिस ज्ञानसे यह प्रतीत होता है कि सब

भूतोंमें पृथक् पृथक् असंख्य भाव हैं, उसे राजस ज्ञान कहते हैं ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

पर एक ही देहमें समस्त परमात्मा बन्द हैं, इस प्रकारकी प्रमाणहीन और असत्य संकुचित बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥

जो कर्म नित्य और नियमपूर्वक आसक्ति और रागद्वेष त्यागकर, फल पानेकी इच्छाके बिना किया जाता है, उसे सात्विक कर्म कहते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

पर किसी विशेष उद्देश्यसिद्धिके लिये अहङ्कारके वश होकर, अत्यन्त कष्ट उठाकर जो कर्म किया जाता है, उसे राजस कर्म कहते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

इस कर्मका परिणाम क्या होगा, इसमें व्यय कितना होगा, कष्ट कितना उठाना होगा और मेरी सामर्थ्य कितनी है, इत्यादि विषयों-का विचार किये बिना ही मूर्खतासे जो कर्म किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते

जो कर्त्ता आसक्तिहीन है, अहङ्कारहीन है, धैर्य तथा उत्साहसे युक्त है, सफलता और असफलताका जिसपर भला-बुरा परिणाम नहीं होता, उसे सात्त्विक कर्त्ता कहते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

जो कर्त्ता आसक्त है, जिसे फल पानेकी इच्छा है, लोभी है, घातक और अशुचि है, लाभ और अलाभसे सुखी और दुःखी होता है, उसे राजस कर्त्ता कहते हैं।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥

जो कर्त्ता कर्मका दुर्लक्ष्य करनेवाला, अपढ़, अक्खर, दुष्ट, अकर्मा, दीर्घसूत्री, सदा असन्तुष्ट और आलसी है, उसे तामस कर्त्ता कहते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥२९॥

हे धनञ्जय, गुणानुसार बुद्धिके और धृ॰ अर्थात् धैर्यके भी तीन तीन भेद होते हैं; वे म॰ विस्तारके साथ बताता हूं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

हे पार्थ, धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये, अधर्मसे निवृत्ति होनी चाहिये, किस समय क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, किसमें भय है और किसमें अभय, किससे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और किससे मुक्त होता है, ये बातें जिस बुद्धिसे जानी जाती हैं, उसे सात्विकी बुद्धि कहते हैं ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

हे पार्थ, जिस बुद्धिसे यह ठीक नहीं मालूम होता कि धर्म क्या है, क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, उसे राजसी बुद्धि कहते हैं ।३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

हे पार्थ अज्ञानसे ढकी रहनेके कारण जिस बुद्धिसे अधर्म धर्म जान पड़ता है और हित अहित मालूम होने लगता है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं। ३२।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी

हे पार्थ, जिस धृतिसे (धैर्यसे) चित्त एकाग्र होता है, जो धृति कभी विचलित नहीं होती और जिससे मन, प्राण तथा इन्द्रियोंकी क्रिया उत्तम रूपसे होती है, उसे सात्विकी धृति कहते हैं ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।

पर हे अर्जुन, जिससे धर्म काम तथा अर्थ भलीभांति सिद्ध होते हैं, पर कभी कभी फलमें आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे राजसी धृति कहते हैं ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

परन्तु हे पार्थ, जिससे निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा उन्माद उत्पन्न होता है और जिससे दुर्बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह तामसी धृति है॥ ३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥

हे भरतर्षभ, सुख भी तीन प्रकारका है, वह सुनो। जिस सुखका परिचय बहुत दिनोंके अभ्याससे ही होता है और जिसके प्राप्त होनेसे दुःखका अन्त हो जाता है॥ ३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

जो आरम्भमें विषसा पर अन्तमें अमृतसा लगता है, जिसकी उत्पत्ति आत्म-विचारमें

लगी हुई तथा प्रसन्न बुद्धिसे होती है, वह सुख सात्त्विक कहाता है ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

जिस सुखकी उत्पत्ति विषय और इन्द्रियोंसे है तथा जो प्रारम्भमें अमृतसा, पर अन्तमें विषसा लगता है, उस सुखको राजस सुख कहते हैं ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

जो सुख प्रारम्भमें और अन्तमें भी चित्तमें मोह उत्पन्न करता है, जिसकी उत्पत्ति निद्रा, आलस्य और प्रमादसे होती है, उसे तामस कहते हैं ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

प्रकृतिके इन तीन गुणों—सत्व, रज और तमसे मुक्त जीव स्वर्ग, पृथ्वी और आकाशमें कहीं भी नहीं है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके अर्थात् ज्ञानकी चर्चा और वृद्धि करनेवालों, देश और समाजकी बाहरी और भीतरी शत्रुओंसे रक्षा करनेवालों तथा इन तीनोंकी सेवा करनेवालोंके स्वाभाविक गुणोंके अनुरूप उनमें कर्म भी भिन्न भिन्न होते हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥

शम (चित्तको अपने अधीन करना), दम (बाह्य इन्द्रियोंका दमन करना), तप, शुचि,

क्षमा, सरलता, शास्त्र-ज्ञान, अनुभवज्ञान और

परलोक-विषयक श्रद्धा, ये ब्राह्मणोंके स्वभाव-सिद्ध कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

शूरता, तेजस्विता, धीरता, दक्षता, युद्धमें स्थिरता, उदारता और प्रभुता, ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

खेती, गोरक्षा और व्यापार वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं । शूद्रका स्वाभाविक कर्म सेवा करना है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

जो लोग अपने अपने गुण और प्रवृत्तिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करते हैं, उन्हें उत्तम

सिद्धि प्राप्त होती है। स्वकर्म करनेवालोंको सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, वह सुनो॥ ४५॥ *

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिससे इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है और जिसकी सामर्थ्यसे यह चल रहा है, अपना अपना स्वाभाविक कर्म करनेवाला मनुष्य वस्तुतः उसीकी सेवा करता है और इसीसे वैसे कार्यमें उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

पर धर्मका आचरण यदि सहज भी हो तो भी उसकी अपेक्षा सर्वथा दोषरहित न होनेपर भी स्वधर्म श्रेष्ठ है। स्वाभाविक कर्म करनेसे पाप नहीं लगता॥ ४७॥

* श्रीभगवानने यहां गुण-कर्मको ही प्रधानता दी है, केवल जन्महीको नहीं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

हे कौन्तेय! दोषयुक्त होनेपर भी अपने स्वाभाविक कर्त्तव्यकर्मका त्याग कभी न करना चाहिये; क्योंकि जैसे आग धुएंसे घिरी रहती है, उसी प्रकार कर्ममात्रका आरम्भ दोषयुक्त होता है॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति॥

पर कर्ममें अपनी बुद्धिको आसक्त न होने देना चाहिये। इस प्रकारके संन्याससे युक्त होकर अर्थात् कर्मफलकी इच्छाका त्यागकर कर्म करनेसे मनुष्य कर्म-दोषसे मुक्त हो जाता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

हे कौन्तेय! जिसे यह सिद्धि प्राप्त हुई है

अर्थात् जो ज्ञानबलसे चित्तको स्वाधीन रख निरपेक्षभावसे फलकी इच्छा किये बिना स्वकर्म करनेमें समर्थ हो गया है, उस पुरुष-को ब्रह्मकी कैसे प्राप्ति होती है, यह विषय मैं संक्षेपमें समझाता हूं, सुनो। यह ब्रह्मप्राप्ति ज्ञानका ही उत्तम परिणाम है ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्यच।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

शुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर, धैर्यसे अपने चित्तका नियमन कर, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, इन विषयोंसे इन्द्रियोंको छुड़ाकर काम और क्रोधका संहार करो ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

एकान्त स्थानमें वास कर, मिताहारी बन-कर, देह, वाक्य और मनको अपने अधीन कर,

ध्यानबलसे परब्रह्ममें चित्तको लगाकर पूर्ण वैराग्य धारण कर ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

साथ ही अपने वैराग्यका अहंकार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध और परिस्थितिका प्रभाव तथा ममत्व त्यागकर जो पुरुष शान्त हुआ है, वह यह समझनेयोग्य हो गया है कि "मैं ब्रह्म हूं" ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

जो ब्रह्ममय हो गया है, वह सदा प्रसन्न रहता है, वह गयेका शोक नहीं करता और पानेकी इच्छा नहीं करता, जीवमात्रको सम-दृष्टिसे देखता है तथा मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्तिसे वह मुझे जान लेता है—मैं कितना बड़ा हूं, यह वह ठीक ठीक जान लेता है। और इस प्रकार मुझे तत्वतः जानते ही मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् परमानन्द रूप होता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सब समय स्वकर्त्तव्योंका पालन करते हुए ही जो मेरी प्राप्तिकी इच्छा करता है, वह मेरी कृपासे अनादि और अव्ययपद प्राप्त करता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

सब कर्मफलोंको चित्तसे मुझे अर्पण कर,

मुझे ही परम प्राप्य समझकर, निश्चयात्मक

बुद्धिसे मनको स्वाधीन कर चित्तको सदा मुझमें लगाओ ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

यदि तुम मुझमें चित्त लगाओगे तो मेरी कृपासे समस्त दुःखोंसे पार हो जाओगे, पर यदि अहङ्कारके कारण मेरी बात न मानोगे तो तुम्हारा नाश होगा ।५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

यदि अहङ्कारका आश्रय कर कहोगे कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तो तुम्हारा यह निश्चय कभी भी टिक न सकेगा, तुम्हारी प्रकृति ही तुमसे युद्ध करावेगी ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

हे कौन्तेय, तुम अपने स्वभावसिद्ध कर्मोंसे बंधे हो, यदि मोहके वश उन्हें करना न चाहोगे तो भी अवश होकर वे तुम्हें करने ही होंगे ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, परम बलवान ईश्वर सर्व भूतों-के हृदयोंमें वास करता है, वह अपनी मायासे जीवमात्रको चक्रपर चढ़ाकर फिरा रहा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्

हे भारत, तुम सब प्रकारसे उसी हृदय-स्थित ईश्वरकी शरण जाओ। उसके प्रसादसे तुम परम शान्ति और शाश्वत पद पाओगे ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

अबतक मैंने तुमको गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान बताया। इसपर भलीभांति विचार करो और बाद जो जी चाहे वही करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

फिर मैं तुम्हें सबसे गुह्य बात बताता हूं, सुनो। तुम मेरे परम प्रिय हो, इसीसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूं॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि तुम मुझमें ही मिलोगे, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

चाहे जो धर्म हो, यदि वह मेरे उपदेशके विरुद्ध हो तो उसका त्याग करो और मेरी ही शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ाऊंगा, शोक मत करो ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

जिसका चित्त स्वाधीन नहीं है, जिसकी ईश्वर और गुरुपर भक्ति नहीं है, जिसे हितकी बातें अच्छी नहीं लगतीं अथवा जो मेरी निन्दा करता है, उसे यह बात बतानेयोग्य नहीं है॥६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

जो मनुष्य यह परम गुह्य मेरे भक्तोंको बतावेगा, उसकी मुझपर दृढ़ भक्ति होगी और वह मुझसे ही मिलेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है* ॥६८॥

* भगवानकी आज्ञा है कि गीताका प्रचार मनुष्य-

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

उसकी अपेक्षा मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है और मुझे उससे अधिक प्रिय समस्त पृथ्वीपर दूसरा कोई न होगा ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

मैं कहता हूं कि हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादपर जो ध्यानपूर्वक विचार करेगा, उसके इस ज्ञानयज्ञसे मेरी ही पूजा होगी ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्य-कर्मणाम् ॥७१॥

मात्रमें और विशेष करके हिन्दुमात्रमें तो अवश्य ही करना प्रत्येक हिन्दूका पहला कर्तव्य है।

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर और द्वेषसे दूर होकर यह संवाद सुनेगा, वह सब पापोंसे मुक्त होकर उस लोकमें जायगा जिसमें पुण्य करनेवाले ही जाते हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

हे पार्थ, तुमने एकाग्रचित्त होकर यह सुना तो? धनञ्जय! अज्ञानके कारण तुम्हारे मनमें जो मोह उत्पन्न हुआ था, अब तो वह नष्ट हो गया न?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

हे अच्युत! तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे पूर्वकी स्मृति हो गयी, सन्देह दूर हो गया, अब देखो मैं तुम्हारी

आज्ञाका पालन करनेके लिये खड़ा हो गया हूं ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इस प्रकार रोमाञ्चित करनेवाला वासुदेवका और महात्मा अर्जुनका यह संवाद मैंने सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

यह परम गुह्य तत्व, स्वयं योगेश्वर कृष्णके योगकी व्याख्या करते समय, उनके मुखसे और महर्षि व्यासकी कृपासे मैंने सुना ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजन्, केशवार्जुनका यह पुण्यकारक

अद्भुत संवाद फिर फिर स्मरण कर मैं बार बार हर्षित हो रहा हूं।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥

और हे राजन्! कृष्णके उस अद्भुत रूपका फिर स्मरण होनेके कारण मुझे बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है तथा मैं बार बार आनन्दित हो रहा हूं॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥७८॥

मेरा यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं राजलक्ष्मी है, वहीं विजय है, वहीं सतत उन्नति है और वहीं न्याय है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥

हिन्दी पुस्तक एजेन्सीमाला

→ की ←

पुस्तकें

(१) सप्त सरोज (७ कहानियां) ।)
(२) महात्मा शेख़ सादी (जीवनी) ॥)
(३) विवेक-वचनावली (उपदेश) ।)
(४) जमसेदजी नसरवानजी ताता ।)
(५) सेवासदन (उपन्यास) ३)
(६) संस्कृत-कवियोंकी अनोखी सूझ ।=)
(७) लोकरहस्य (विनोद) ॥=)
(८) खाद (कृषि) १)
(९) प्रेम पूर्णिमा (१५ कहानियां) २)
(१०) आरोग्यसाधन (स्वास्थ्य) ।-)
(११) भारतकी साम्पत्तिक अवस्था ३॥)
(१२) भाव चित्रावली (मनोरंजन) ५)
(१३) राम बादशाहके छः हुक्मनामे ।)

(३०) भारतीय वीरता (कहानियां) १॥)
(३१) रागिणी (उपन्यास) ४)
(३२) प्रेम पचीसी (२५ कहानियां) २॥)
(३३) व्यावहारिक पत्रबोध (शिक्षा) ॥≠)
(३४) रूसका पंचायती राज्य ॥)
(३५) टालस्टायकी कहानियां १)
(३६) सुयेन च्वांग (भ्रमण) १।)
(३७) मौलाना रूम और उनका काव्य १।)
(३८) आधुनिक भारत (इतिहास) ॥)
(३९) हिन्दीसाहित्यविमर्श (आलोचना) १।)
(४०) धनकुबेर कारनेगी (जीवनी) १)
(४१) चरित्र-चिन्तन (सदाचार) १।)
(४२) रामचरितमानसकी भूमिका २॥)
(४३) उषाकाल (उपन्यास २ भाग) ५॥)
(४४) सभ्यता महारोग २)
(४५) चित्रमय रामायण ३)
(४६) स्वास्थ्य साधन (सचित्र) २॥)

सस्ती ग्रन्थ-माला

(१) आनन्दमठ (बङ्किमबाबूका उपन्यास) ॥)
(२) पश्चिमीय सभ्यताका दिवाला ।)
(३) संसारका सर्वश्रेष्ठ पुरुष ॥)
(४) भक्ति (अध्यात्म) ।≈)
(५) श्रीमद्भगवद्गीता (भाषा टीका) ।)
(६) इन्दिरा (बङ्किमबाबूका उपन्यास) ।≤)
(७) भक्तिरहस्य (अध्यात्म) ॥)
(८) देवी चौधरानी (बङ्किमबाबूका उपन्यास) ॥)
(९) विषवृक्ष ,, ,, १)
(१०) उर्दू कवियोंकी अनोखी सूझ ॥)

बाल-विनोद-पुस्तक-माला

(१) बालरामायण (सचित्र) ॥–)
(२) [illegible] सैर (सचित्र और सजिल्द) ॥≤)

(३) अद्भुत कहानियां १ला (सचित्र) ॥)

(४) मधुर कहानियां २रा (सचित्र) ॥)
(५) आकाशकी सैर " ॥)

हास्यरस-धारा

श्री जी० पी० श्रीवास्तवके ग्रंथ

(१) लतड़ामसिंह शर्मा (उपन्यास) ॥=)
(२) नोक झोंक (निबन्ध) १)
(३) मार मार कर हकीम (नाटक) १)
(४) साहब बहादुर " ॥)
(५) गङ्गा जमुनी (प्रेम कहानी) ३)
(६) लम्बी दाढ़ी १)

नन्द-ग्रन्थ-माला

(१) श्रीमद्भगवद्गीता (मूल मोटा टाईप) ।=)
(२) रामायण (गो० तुलसीदासकृत क्षेपकरहित सजिल्द) १)
(३) विष्णुसहस्रनाम (गुटका))

(४) मनुस्मृति (भाषाटीका) सजिल्द १।)
(५) प्रेमसागर (सजिल्द) ॥=)

राष्ट्रीय शिक्षावली
तथा
कन्या-कौमुदी-कला
और अन्य पाठ्यपुस्तकें

(१) पहली पोथी छोटी)॥
(२) पहली पोथी बड़ी =)
(३) पहली पोथी (संयुक्ताक्षर) ≡)
(४) दूसरी पोथी ।)
(५) तीसरी पोथी ।=)
(६) चौथी पोथी ॥)
(७) पांचवीं पोथी ॥)
(८) छठी पोथी १)

(९) वर्णमाला (रङ्गीन और सचित्र) [illegible]

(१०) हिन्दी अंक प्रकाश(पट्टी पहाड़ा))॥
(११) मौखिक गणित (जबानी हिसाब) ≈)॥
(१२) बाल भजन माला –)
(१३) खेल-खिलौना (रङ्गीन और सचित्र) ।≡)
(१४) कन्या-कौमुदी-कला १ली ≡)
(१५) " " २री ।)
(१६) " " ३री ।≈)

केवल लागतमात्र मूल्यकी पुस्तकें:—

(१) गीता रत्नमाला (पद्यानुवादसहित) १॥)
(२) हिन्दू धर्म प्रवेशिका ।)
(३) श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका भाषा टीका) –)॥
(४) यंगइण्डिया (३भाग ८ चित्र १४००० पृष्ठ) ४॥)
(५) अहङ्कार ॥)
(६) व्यापार सङ्गठन २)
(७) सरल शरीर विज्ञान ॥)
(८) हिन्दी-गीता (केवल भाषामें) –)॥

हमारी प्रचारित पुस्तकें

(१) महाभारत (रेशमी जिल्द २ भाग) १०)
(२) देशी करघा (सचित्र) [illegible]=)
(३) विक्रयकला ।)
(४) हिन्द-स्वराज्य (म० गान्धी) ।-)
(५) भारतकी स्वतन्त्रता(सी०एफ०एण्डरूज)।)
(६) वस्त्र-व्यवसायी और स्वदेशी आन्दोलन ।)
(७) जेवनार (खाना बनानेकी विधि) ।-)
(८) कांग्रेसका जन्म और विकास =)
(९) भजनमाला ।)
(१०) नेताओंकी तीर्थयात्रा और उनके सन्देश =)
(११) बैङ्कका दिवाला (प्रेमचन्दजीकी१कहानी)=)
(१२) पंच परमेश्वर " -)
(१३) बड़े घरकी बेटी " -)
(१४) शान्ति " -)
(१५) लाल फीता " -)
(१६) [illegible] -)

(१७) जीवन-ज्योति (उपन्यास)
(१७) खरा सोना (उपन्यास)
(१८) लो० तिलक (जीवनी)
(१९) बोल्शेविक जादूगर (लेनिनकी जीवनी)
(२०) वीणा-झङ्कार (राष्ट्रीय गान)
(२१) सत्याग्रहकी मीमांसा
(२२) प्रेम-पुजारी राजा महेन्द्र प्रताप
(२३) प्रोत्साहन (उपन्यास)
(२४) भगवानकी लीला (अरविन्द घोष)
(२५) प्रजाके अधिकार
(२६) नारी-रहस्य
(२७) अमरीका कैसे स्वाधीन हुआ ?
(२८) उपदेशशतक (रामकृष्णके उपदेश)
(२९) रणधीर और प्रेममोहिनी (नाटक)
(३०) आरम्भिक शिक्षा
(३१) हरिकीर्तन भजनावली
श्रीमद्भगवद्गीता ([illegible])

जीवन-चरित्र

त्मा शेखसादी—फारसीके प्रसिद्ध विद्वान्, हात्माका सचित्र जीवनचरित्र। मूल्य ॥)

ासेदजी नसरवानजी ताता—भारतके वसायी ताताका ओजपूर्ण वृ न्त। मूल्य ।)

ाव-हरण और दिलीप सिंह—महाराज सिंहके पुत्र महाराज दिलीप सिंहका रोमांच- नवृत्तान्त। मूल्य २)

केशरी शिवाजी—भारतके प्रतापी वीर शिवाजीका वृहत् जीवनचरित्र, पुस्तक बड़ी थ लिखी गयी है। मूल्य ४)

कुबेर कारनेगी—एक गरीब जोलाहेके होकर अपने उद्योग और परिश्रमके बल ासे धनीका विचित्र वृत्तान्त अवश्य पढ़ें।

जारी राजा महेन्द्र प्रताप—आधुनिक सरसे बड़ा देशभक्त राजाका हृदयग्राही न्त। सचित्र पुस्तकका मूल्य १)

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता।

सभ्यता महारोग,

उसका निदान और निवारण।

अनुवादक—श्रीसुन्दरलालजी

इस पुस्तकके लेखक महाशयने पश्चिमीय सभ्यतापर बहुत ही गम्भीरतापूर्वक वास्तविक दृष्टिसे विचार किया है। जिस सभ्यताकी दोहाई देकर आज युरोपियन जाति सारे संसारको शिक्षा देनेका बीड़ासा लिये फि[रती] रही है और जिसकी जाहिरी तड़क-भड़कप[र] हमारे देशके भी कतिपय अंगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति लट्टू हो रहे हैं उसी सभ्यताकी इस पुस्तकमें बड़ी खोजके साथ समीक्षा की गयी है।

यह महारोग अपना कुप्रभाव हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गपर डाल रहा है। हमारे धार्मिक सामाजिक और नैतिक पतनकी खोज करनेसे आपको मालूम हो जायगा कि यह पश्चिमीय सभ्यता हमारे अनुकूल नहीं है। और इसके निदान और निवारणकी सख्त जरूरत है।

पृष्ठ ३७७, मूल्य ॥)